* ओ३म् *

भर्तृहरि-शतक

अर्थात्

श्रीयोगिराज भर्तृहरि महाराज रचित
नीति, शृंगार और वैराग्य-
शतक, हिन्दी सरल
टीका सहित

टीकाकार—

रामजी शर्मा "मधुवनी"

प्रकाशक—

महाशय श्यामलाल वर्म्मा आर्य-बुकसेलर

बरेली ।

द्वितीयवार २००० } सन् १९२६ ई० { मूल्य ॥)

बाबू चन्द्रमोहनदयाल मैनेजर द्वारा दयाल प्रिंटिंग वर्क्स
मिशन रोड, लखनऊ में मुद्रित—१९२६

ओ३म्

प्रथम खण्ड

नीतिशतकम्

मंगलाचरण

जिनके सिर पर भूषण भूता चन्द्रकला कर रही प्रकाश ।
चंचल मदन पतंग जिन्होंने भस्म किया है विना प्रयास ।।
जो मोहान्धकार हरते हैं करते हैं यथार्थ कल्याण ।
जयति मुनीन्द्र मनो मंदिर के ज्ञान-दीप शंकर भगवान ।।

ग्रंथारम्भ

दिक्कालाद्य नवच्छिन्नानन्त चिन्मात्र मूर्तये ।
स्वानुभूत्येक साराय नमः शान्ताय तेजसे ।। १ ।।

दशो दिशाओं और तीनों कालों में रहनेवाले, अनन्त, चैतन्य मूर्ति केवल अनुभव से जानने योग्य, शांत और परम तेजस्वी परमात्मा को नमस्कार है ।

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि च तं नरं जयति ।। २ ।।

अज्ञानी पुरुषों को सुख देकर सुधार सकते हैं, और ज्ञानवान मनुष्यों को अति सुख से वशीभूत कर सकते हैं; परन्तु अल्पज्ञों को ब्रह्मा भी नहीं सुधार सकते।

प्रसह्यमणिमुद्धरेन्मकर वक्त्र दंष्ट्रा कुरात,
समुद्रमपि संतरेत्प्रचलदूर्मिमाला कुलम्।
भुजंगमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद्धारयेन्,
न तु प्रतिनिविष्ट मूर्ख जनचित्तमाराधयेत् ॥ ३ ॥

यदि मनुष्य चाहे तो मगर के मुंह के नीचे से भी बल पूर्वक मोती निकाल सकता है और चंचल तथा भयंकर लहरों से युक्त समुद्र को भी तैरकर पार कर सकता है। सुगंधित फूल की तरह क्रोध से भरे हुए सर्प को भी सिर पर धारण कर सकता है। परन्तु मूर्ख का चित्त जो असत वस्तु में धसा हुआ है, उसे कोई विलग नहीं कर सकता। सारांश यह कि मूर्ख लोग जो विचार कर लेते हैं, उससे उनको हटाना ज़रा टेढ़ी खीर है।

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन।
पिबेच्चमृग तृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः।
कदाचिदपि पर्यटञ्शश विषाण माशादयेन,
न तु प्रतिनिविष्ट मूर्ख जनचित्तमाराधयेत् ॥ ४ ॥

यदि यत्न से पेरने पर बालू से तेल निकल जाय, प्यासा हुआ आदमी यदि मृग तृष्णा से कदाचित् जल प्राप्त कर सके और खोजने पर खरहे की सींग का पता भी मिल जाय; परंतु असत वस्तु में घुसे हुए मूर्खों के चित्त को कोई भी अलग नहीं कर सकता।

व्यालं बालमृणाल तन्तुभिरसौ रोद्धु समुज्जृम्भते,
छेतुं वज्रमणीन् शिरीष कुसुम प्रांतेन सन्नह्यते।
माधुर्यं मधुबिन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधेरीहते,
नेतुंवाञ्छतियः खलान्पथिसतां सूक्तैः सुधास्यंदिभिः ॥ ५॥

वह मनुष्य कोमल कमल की डंडी से हाथी को बाँधना चाहता है, फूल की पंखुड़ी से हीरे को बेधना चाहता है और केवल एक बूंद शहद से समुद्र के खारे पानी को मीठा किया चाहता है जोकि मूर्खों को अपने ज्ञानोपदेश से अच्छे मार्ग में लाने की चेष्टा करता है।

स्वायत्तमे कान्त गुणं विधात्रा,
विनिर्मितं छादन मज्ञतायाः।
विशेषतः सर्वविदां समाजे,
विभूषणं मौनमपण्डितानाम् ॥ ६ ॥

चुप रहना एक तो अपने आधीन है, इसके अतिरिक्त इसमें और भी गुण हैं। विधाता ने इसे अज्ञानता का ढकना बनाया है और विशेष करके चतुरों की सभा में यह मूर्खों का भूषण है। अर्थात् मूर्ख भी किसी सभ्य समाज में मौन होकर बैठा रहे, तो सभी लोग उसे योग्य ही समझेंगे।

यदा किञ्चिज्ज्योऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्।
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्य भवदवलिप्तं मम मनः॥
यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतम्।
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥ ७॥

जब मैं अल्पज्ञ था तब मदोन्मत्त हाथी की भाँति मुझे यह गर्व था कि मैं सर्वज्ञ हूं। पर जब पंडितों द्वारा मुझे कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ तब मैंने अपने को मूर्ख जाना और मेरा सारा मद ज्वर की भाँति उतर गया। इसका भाव यह है कि जब तक मनुष्य अल्पज्ञ रहता है तब तक वह समझता है कि मेरे समान संसार में कोई दूसरा है ही नहीं। परन्तु जब उसे ज्ञान प्राप्त होता है तो उसे अपनी भूल विदित हो जाती है।

कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगर्हि जुगुप्सितम्।
निरुपमरसं प्रीत्या खादन्नरास्थि निरामिषम्॥
सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शंकते।
नहि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रह फल्गुताम्॥ ८॥

जिस समय कुत्ता, कीड़ों से भरा, लार से भीगा, दुर्गन्धि भरी, निन्दित और नीरस मनुष्य की हड्डी को खाने लगता है, उस समय वह अपने समीप इन्द्र को भी देखकर शंका नहीं करता। इससे यह सिद्ध होता है कि नीच आदमी (जीव) जिस वस्तु को ग्रहण कर लेते हैं उसकी स्वच्छता पर ध्यान नहीं देते हैं।

शिर शार्वं स्वर्गात्पतित शिरसस्तत्क्षिति धरम्।
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम्॥
अधोगंगा सेयं पदमुपगता स्तोकमथवा।
विवेक भ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः॥ ९॥

जिस प्रकार गंगा स्वर्ग से शिवजी के मस्तक पर पहले गिरीं, फिर वहाँ से ऊँचे पहाड़ पर, फिर पहाड़ से धरती पर, और इसी तरह क्रमशः नीचे गिरती-गिरती और स्वल्प होते-

होते समुद्र में गिर कर अदृश्य हो जाती हैं। ठीक इसी तरह जो लोग विवेक भ्रष्ट हैं वे गिरते-गिरते नाश हो जाते हैं।

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो।
नागेन्द्रो निशितां कुशेन समदो दण्डेन गो गर्दभो॥
व्याधिर्भेषजसंग्रहैश्च विविधैर्मन्त्र प्रयोगैर्विषम्।
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्र विहितं मूर्खस्यनास्त्यौषधं॥१०॥

जल से अग्नि का, छाता से धूप का, अंकुश से मदोन्मत्त हाथी का, दण्ड से दुष्ट बैल और गधे का, मंत्र प्रयोग से विष का और नाना तरह की औषधियों से रोगों का निवारण हो सकता है। अर्थात् योगशास्त्र के नियमानुसार सब की औषधि है परन्तु मूर्खों की औषधि हो ही नहीं सकती।

साहित्य संगीत कला विहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छ विषाण हीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमानः
स्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्॥११॥

जो मनुष्य साहित्य और संगीत-कला को नहीं जानता अथवा जिनका इनसे प्रेम नहीं है वे बिना सींग और पूंछ के साक्षात् पशु हैं। यह उनके बड़े भाग्य हैं जो वे तृण नहीं खाते और जीते रहते हैं। अभिप्राय यह है कि साहित्य और संगीत-कला से हीन मनुष्यों में मनुष्यत्व ही नहीं रह जाता। उन्हें मनुष्य के रूप में पशु ही समझना उचित है।

येषां न विद्या न तपो न दानम्,
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।

ते मर्त्यलोके भुवि भार भूता,
मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति ॥ १२ ॥

जिनमें विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील, गुण और धर्म ये कुछ भी नहीं हैं वे पृथ्वी के भार हैं। साक्षात् पशु हैं जो मनुष्य के रूप में विचरते हैं।

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह ।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्र भवनेष्वपि ॥ १३ ॥

जंगल और पहाड़ों में जंगली पशुओं के साथ रहना अच्छा है परन्तु मूर्खों के साथ स्वर्ग में भी रहना बुरा है।

शास्त्रो परकृत शब्द सुन्दर गिरः शिष्य प्रदेयागमा ।
विख्याताः कवियो वसंति विषये यस्य प्रभोर्निर्धना ॥
तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य कवयो ह्यर्थं विनापीश्वरा ।
कुत्स्याःस्युः कुपरीक्षकाहि मणयो यैर्घतः पातिताः ॥१४॥

जिनकी वाणी शास्त्रानुकुल शुद्ध है, जिनकी विद्या छात्रों को पढ़ाने योग्य है, और जो संसार में प्रसिद्ध है। ऐसे कवि जिस राजा के राज्य में निर्धन रहते हैं, उस राजा की ही अप्रतिष्ठा है। क्योंकि कवि लोग तो विना धन के ही सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं। इसलिये मणि का उचित मूल्य न लगानेवाला ही खोटा है न कि मणि। सारांश यह कि यदि गुणी लोगों की इज्जत न की जाय, तो इससे उनकी अप्रतिष्ठा नहीं होती; बल्कि उनका मान न करनेवालों की ही होती है।

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत्सर्वदा,
ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिपरा।

कल्पान्तेऽपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमंतर्धनम्,
येषांतान्प्रति मानमुज्झत नृपः कस्तैः सहस्पर्धते ॥१५॥

चोरों को दिखाई नहीं देता, सर्वदा सुख देने वाला, दान देने पर भी बढ़ने वाला और कल्पान्त में भी जिसका नाश नहीं होता ऐसा विद्या रूपी अन्तर धन जिनके पास है उनसे हे राजा लोगों ! अभिमान छोड़ दो। क्योंकि उनके समान संसार में दूसरा और कौन है ?

अधिगत परमार्थान् पंडितान्मावमंस्था।
स्तृणमिव लघु लक्ष्मीनैव तान्संरुणद्धि ॥
अभिनवमदलखाश्याम गण्डस्थलानाम्।
न भवति बिसतन्तुर्वारणं वारणानाम् ॥ १६ ॥

हे राजाओ ! जिनको मोक्ष के साधन प्राप्त हैं उन पंडितों का अपमान कभी मत करो। क्योंकि उनको तुम्हारी तृण के सदृश्य लघु लक्ष्मी कभी रोक न सकेगी। जैसे नूतन मद की धारा के समान शोभा देनेवाले श्यामले मस्तक वाले हाथी को कमल की डंडी का सूत नहीं रोक सकता।

अम्भोजिनी वननिवास विलासमेव।
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता ॥
स्नत्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धाम्।
वैदग्ध कीर्तिम पहर्तुमेसौ समर्थः ॥१७॥

यदि ब्रह्मा हंसों पर क्रोधित हो जायँ तो केवल उनका कमलवन का विलास नष्ट कर सकते हैं परन्तु दूध और जल बिलगाने की जो प्रसिद्ध पाण्डित्यता उनमें है उसे वह भी नहीं

छुड़ा सकते। भाव यह है कि संत लोग अनेकों कष्ट आ पड़ने पर भी अपने कर्तव्य को नहीं छोड़ते।

केयूरा न विभूषयंति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला।
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नीलंकृता मूर्द्धजाः॥
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते।
क्षीयंते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणं॥१८॥

बिजायट और चंद्रमा के समान उज्ज्वल मोतियों की माला, स्नान चन्दन लेपन फूलों का सृंगार और सजे हुए बालादि मनुष्य को शोभित नहीं करते। बल्कि संस्कार युक्त शुद्ध वाणी से ही मनुष्यों की शोभा होती है। और भूषण तो नाश को भी प्राप्त हो सकते हैं परन्तु वाणी रूप भूषण सदैव जगमगाता रहता है। सारांश यह कि सच्ची शोभा विद्या ही है।

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनम्।
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः॥
विद्या बंधुजनो विदेश गमने विद्या परं दैवतम्।
विद्या राजसु पूजिता नहिं धनं विद्या विहीनः पशुः॥१९॥

विद्या ही मनुष्य की शोभा और छिपा हुआ धन है। विद्या ही भोग, यश और सुख को देने वाली है। विद्या गुरुओं का गुरु है। परदेश में विद्या ही भाई बंधु होती है। सारांश यह कि विद्या ही देवता है। राजा लोगों में भी विद्या ही की पूजा होती है, कुछ धन की नहीं। इसलिये जो विद्या से हीन है उसे पशु ही समझना चाहिये।

क्षान्तिश्चेद्कवचेन किं किमरिभिः क्रोधोस्तिचेद्देहिनाम्।
ज्ञातिचेदनलेन किं यदि सुहृद्दिव्यौषधैः किं फलम्॥

किं सर्पैर्यदि दुर्जनाः किमधनैर्विद्याऽनवद्याऽयदि व्रीडा ।
चेत्किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येनकिम् ॥ २० ॥

यदि क्षमा है तो कवच का क्या काम है ? यदि क्रोध है तो शत्रु की क्या आवश्यकता है ? यदि जाति है उसे अग्नि का कुछ प्रयोजन नहीं है । और यदि इष्ट मित्र उपस्थित हों तो फिर दिव्य औषधियाँ व्यर्थ हैं । जिनके संगी दुष्ट लोग हैं उनका सर्प अधिक कर ही क्या सकता है ? जिनके पास निर्दोष विद्या है उसे धन संचय करने की क्या ज़रूरत है । लज्जावान के लिये भूषण क्या होगा ? और जिनकी सुन्दर कविता है उसके आगे राज्य क्या है ? अर्थात् कविता के आगे राज्य तुच्छ है ।

दाक्षिण्यं स्वजने दया परजने शाठ्यं सदा दुर्जने ।
प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जनेष्वार्जवम् ॥
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धूर्तता ।
ये चैवं पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वलोक स्थितिः ॥ २१ ॥

जो लोग अपने कुटुम्ब पर उदारता, दूसरों पर दया, दुष्टों के साथ दुष्टता, साधुओं से प्रीति, राज सभा में नीति, पंडितों की सरलता, शत्रुओं से शूरता, बड़े लोगों से क्षमा और स्त्रियों से धूर्तता का बर्ताव करते हैं उन्हीं लोगों में लोकाचार स्थिति है । अर्थात् लोकाचार के अनुसार संसार में ऐसा ही करना ठीक है ।

जाड्यं धियो हरति सिंचति वाचि सत्यम् ।
मानोन्नतिं दिशति पापम पा करोति ॥

चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम् ।
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥ २२ ॥

मूर्खता को हरती, वचनों में सत्य को खींचती, प्रतिष्ठा को बढ़ाती, पाप को दूर करती, चित्त को प्रसन्न करती और दशों दिशाओं में कीर्ति को फैलाती है। कहो तो यह सत्संगति मनुष्य को क्या नहीं करती है ?

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम् ॥ २३ ॥

जिनको नवो रस सिद्ध हैं ऐसे पुण्यवान कवीश्वरों के यश रूपी काया में जरा मरण का भय नहीं होता। अर्थात् कवियों का यश सर्वदा के लिये संसार में अचल रहता है।

सूनुः सच्चरितः सती प्रियतमा स्वामी प्रसादोन्मुखः ।
स्निग्धं मित्रमवंचकः परिजनोनिक्लेश लेशं मनः ॥
आकारो रुचिरः स्थिरश्च विभवो विद्यावदातंमुखं ।
तुष्टे विष्टपहारिणीष्टदहरौ संप्राप्यते देहिना ॥ २४ ॥

जिनपर परमात्मा प्रसन्न होते हैं उन्हें ही सदाचारी पुत्र, पतिव्रता स्त्री, अनुग्रह करनेवाला स्वामी, प्रेमी मित्र, अवंचक परिवार, क्लेश रहित मन, सुन्दर स्वरूप, स्थायी धन और विद्या के प्रभाव से चमकता हुआ चेहरा (मुख) प्राप्त होता है।

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधन हरणे संयमः सत्य वाक्यम् ।
काले शक्त्या प्रदानं युवति जन कथा मूक भावः परेषा ॥
तृष्णास्रोतोविभंगो गुरुषु च विनय सर्व भूतानुकम्पा ।
सामान्यः सर्व शास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेषपन्थाः ॥२५॥

जीवहिंसा से अलग रहना, पराये धन को हरण करने से डरना, सत्य बोलना, समयानुसार यथाशक्ति दान देना, पर-स्त्रियों की कथा में मौन रहना, तृष्णा के प्रवाह को तोड़ना, बड़े लोगों में नम्र रहना, प्राणी मात्र पर दया रखना, सब शास्त्रों पर विश्वास रखना और नित्य के नैमित्तिक कार्यों को न छोड़ना यह मनुष्यों के कल्याण का उत्तम मार्ग है। अर्थात् इन कर्मों का करनेवाला सर्वदा आनन्द प्राप्त करेगा।

प्रारभ्यते न खलु विघ्न भयेन नीचै,
प्रारभ्य विघ्न विहता विरमन्ति मध्या: ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्य मानाः,
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥ २६ ॥

नीच लोग विघ्न भय के कारण कार्य आरंभ ही नहीं करते, मध्यम श्रेणी के मनुष्य कार्य्य तो प्रारम्भ कर देते हैं परन्तु विघ्न पड़ जाने पर उसे बीच ही में छोड़ देते हैं। किन्तु उत्तम लोग बारम्बार विघ्न पड़ने पर भी प्रारम्भ किये हुए कार्य्य को नहीं छोड़ते।

प्रियान्याय्या वृत्तिर्मलिमनसुभंगे प्यसुकरम् ।
त्वसंतो नाभ्यर्थ्या सुहृदपि न याच्यः कृशधनः ॥
विपद युच्चैः स्थेयं पदमनु विधेयं च महताम् ।
सतां केनोद्दिष्टं विषममसि धारावत मिदम् ॥ २७ ॥

श्रेष्ठ पुरुष कृपण और दरिद्रों से किसी वस्तु की याचना नहीं करते और अपनी न्यायोक्ति जीविका पर ही संतोष कर लेते हैं। प्राण जाने के भय से भी वे नीच कर्म नहीं करते। वे लोग विपत्ति में भी अपने श्रेष्ठ आचरण को धारण किये रहते

हैं। मालूम होता है कि इस तलवार की धार रूपी कठिन व्रत पर अचल रहने की शिक्षा इनको स्वयं ब्रह्मा ने ही दी है।

क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोपि शिथिलप्रायोपि कष्टां दशा।
मापन्नोपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि॥
मत्ते भेन्द्र विभिन्न कुम्भकवल ग्रासैक बद्धस्पृहः।
किं जीर्णं तृणमत्तिमान महतामग्रेसरः केसरी॥ २८॥

क्या कभी भी मत्त गजराजों के मस्तक विदारनेवाला सिंह, भूख में शक्ति-तेज हीन होने पर भी प्राणान्त के समय भी, सूखी घास खाने में समर्थ हो सकेगा। अर्थात् विपन्न होने की दशा में भी श्रेष्ठ लोग अपने कर्तव्य को नहीं भूलते।

स्वल्पं स्नायुवसावशेष मलिनं निर्मांस मप्यस्थि गोः।
श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न तु तत्तस्य क्षुधा शान्तये॥
सिंहो जम्बुकमंकमागतमपि त्यक्त्वा निहंति द्विपम्।
सर्वः कृच्छ्रगतोऽपिवाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलं॥ २९॥

कुत्ता, लहू और चर्बी से सना हुआ एक मलीन हड्डी का टुकड़ा पाकर प्रसन्न हो जाता है। परन्तु सिंह, गोद में आये हुए स्यार को छोड़ कर भी हाथी को मारता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सभी लोग पुरुषार्थ के अनुसार ही फल की इच्छा करते हैं।

लांगूल चालन मधश्चरणाव पातम्,
भूमौ निपत्य वदनोदर दर्शनं च।
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुंगवस्तु,
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते॥ ३०॥

कुत्ता अपने रोटी देनेवाले के आगे पूंछ हिलाकर, झुककर, और मुंह तथा पेट दिखाकर अनेक प्रकार की चापलूसी करता है परन्तु शेर अपने आहार देनेवाले की ओर एक बार गंभीरता से देखकर फिर चातुर्य्य से भोजन करता है। सारांश यह कि श्रेष्ठ जन चापलूसी नहीं करते।

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
सजातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ॥ ३१ ॥

इस परिवर्तनशील संसार में कौन नहीं जन्मता-मरता। परन्तु जन्म लेना उन्हीं का सफल होता है जो अपने वंश और जाति की भलाई करते हैं।

कुसुमस्तवकस्येव द्वे गतीस्तो मनस्विनाम्।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य विशिर्येत वनेऽथवा ॥ ३२ ॥

फूल के गुच्छे की भाँति श्रेष्ठ पुरुषों की दो दशा होती हैं। या तो सब लोगों के शिर पर ही शोभित होंगे अथवा वन में ही शुष्क होकर समाप्त हो जायँगे।

संत्यन्येऽपि बृहस्पति प्रभृतयः संभाविताः पंचषा।
स्तान्प्रत्येष विशेष विक्रम रुचीराहुर्न वैरायते ॥
द्वावेव ग्रसते दिनेश्वरनिशा प्राणेश्वरौभासुरो।
भ्रातः पर्वणि पश्य दानवपतिः शीर्षावशेषीकृतः ॥ ३३ ॥

भाइयो! परम पराक्रमी राहु केवल शिर ही रहने पर भी तेज पूर्ण चन्द्र और सूर्य्य को ग्रसता है और आसमान के बृहस्पति आदि ग्रहों को छूता भी नहीं। भाव इसका यह है कि पराक्रमी लोग शत्रुता भी करते हैं तो तेजस्वी लोगों से ही, अन्य छोटों से नहीं।

वहति भुवनश्रेणीं शेषः फणाफलकस्थिताम् ।
कमठपतिना मध्येपृष्ठं सदा स विधार्यते ॥
तमपि कुरुते क्रोड़ाधीनं पयोधिरनादरा ।
दहह महतां निःसीमानश्चरित्र विभूतयः ॥ ३४ ॥

चौदह भुवनों को अपने फन पर धारण करनेवाले शेषजी को भी कच्छप अपनी पीठ पर लिये हुए हैं । परन्तु समुद्र ने उस कच्छप को भी अनादर के साथ शूकर के आधीन कर दिया । सारांश यह कि श्रेष्ठ पुरुषों के चरित्र भी विचित्र ही होते हैं ।

वरं पक्षच्छेदः समदमघवन्मुक्त कुलिश,
प्रहारैरुद्गच्छद्बहलदहनोद्गार गुरुभिः ।
तुषारान्द्रेः सूनोरहह पितरि क्लेश विवशं,
नचासौ संपातः पयसि पयसां पत्यु रुचितः ॥ ३५ ॥

हिमाचल के पुत्र मैनाक को मद से गर्वित इन्द्र के चलाये हुए ज्वालामय चक्र की चोट से मर जाना उत्तम था परन्तु अपने पिता हिमाचल को दुखी और संतप्त छोड़ समुद्र की शरण में जाकर अपना पक्ष बचाना उचित न था । सारांश यह कि मनुष्य को अपने पवित्र वंश में कलंक लगा कर तथा अपने परिवार को दुःख में छोड़कर किसी नीच शत्रु की शरण में कभी नहीं जाना चाहिये । अपने वंश गत अभिमान से रहकर मर जाना अच्छा पर किसी की शरण में जाकर जान बचाना अच्छा नहीं ।

यदचेतनोऽपिपादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरिनकान्तः ।
तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतविकृतं कथं सहते ॥ ३६ ॥

जब अचेतन अर्थात् जड़ सूर्य्य कान्तमणि, सूर्य्य की किरणों के स्पर्श से जल उठता है तब भला चेतन-तेजस्वी पुरुष दूसरों के अपमान को क्योंकर सहन कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता।

सिंहः शिशुरपि निपतति मद मलिन कपोल भित्तिषु गजेषु।
प्रकृतिरियं सत्ववताम् न खलु वयस्ते जसोहेतुः॥ ३७॥

सिंह यद्यपि बच्चा भी हो तौ भी मद से मत्त तथा क्रोध वाले हाथी को पछाड़ देता है। तेजस्वियों का यह स्वभाव ही है, अवस्था का कुछ सम्बन्ध नहीं रहता।

जातिर्यातु रसातलं गुणा गणास्तस्याप्यधो गच्छताम्।
शीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः सन्दह्यतां वन्हिना॥
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु न केवलम्।
येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ताइमे॥ ३८॥

चाहे जाति रसातल चली जाय, और सभी गुण उससे भी नीचे गिर जायँ, शील पर्वत से गिरकर चकनाचूर हो जाय, कुटुम्ब के लोग अग्नि में जल कर मर जायँ और शत्रु रूपी शूरता पर वज्र पड़ जाय; परन्तु हमें केवल द्रव्य ही से काम है क्योंकि उसके विना सभी गुण तृणवत् हैं।

तानीन्द्रियाणि सकलानि तदेव कर्म,
सावुद्धिर प्रतिहता वचनं तदेव।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव,
त्वन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत॥ ३९॥

इन्द्रियाँ, व्योहार, प्रबलबुद्धि और वचन के एक रहते हुए

भी मनुष्य धन की गर्मी विना और का और हो जाता है। यह धन की महिमा विचित्र है।

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः।
स पण्डितः स श्रुतवान गुणज्ञः ॥
स एव वक्ता स च दर्शनीयः,
सर्वेगुणाः कांचनमाश्रयन्ति ॥ ४० ॥

जिसके पास धन है वही श्रेष्ठ-कुलीन, पंडित, गुणज्ञ, सुवक्ता और दर्शन करने योग्य है। इससे सिद्ध होता है कि संसार के सभी गुण सुवर्ण-धन के ही आश्रय में रहते हैं। अर्थात् धन में ही सभी गुण वर्तमान रहते हैं।

दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः संगात्सुतोलालनाद्।
विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात् ॥
ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रयान्।
मैत्रीचाप्रणयात्समृद्धिर नयात्त्यागात्प्रमाद्धानम् ॥ ४१ ॥

दुष्ट मंत्रियों के मंत्र से राजा, राजा के सम्पर्क से तपस्वी, मोह से पुत्र, न पढ़ने से ब्राह्मण, कुपुत्र से कुल, दुष्टों के संसर्ग से शील, मद्यपान से लज्जा, विना देखे खेती, परदेश में रहने से स्नेह, अभिमान से मैत्री, अनीति से वृद्धि और प्रमाद पूर्वक लुटाने से धन का नाश हो जाता है।

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुंङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥ ४२ ॥

दान, भोग और नाश यही तीन धन की गति हैं। जिसने

न किसी को दिया और न उससे स्वयं लाभ उठाया, उसके धन की तीसरी गति होती है अर्थात् नष्ट हो जाता है।

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेति निहतो।
मदक्षीणो नागः शरदि सरितः श्यानपुलिनाः॥
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बाल ललना।
तनिम्ना शोभन्ते गलित विभवाश्चार्थिषु जनाः॥ ४३॥

शान से खरादी हुई मणि, युद्ध में विजयी शूर, मद से उतरा हाथी, शरद ऋतु की स्वच्छ नदी, दूज का चन्द्रमा, रति में दली हुई सुन्दरी और दान देकर दरिद्र हुये पुरुष, इन सब की शोभा निर्बलता ही से होती है। अर्थात् ये नम्र होते हैं तभी इनकी शोभा होती है।

परिक्षीणः कश्चित्स्पृहयति यवानां प्रसृतये।
स पश्चात्संपूर्णो कलयति धरित्रीं तृणसमाम्॥
अतश्चानैकांत्याद् गुरुलघुतयार्थेषु धनिनां।
मवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च॥ ४४॥

दरिद्रता की अवस्था में मनुष्य एक मुट्ठी जव की इच्छा करता है और जब वह सम्पन्न हो जाता है तो पृथ्वी को तृण समान समझने लगता है। क्योंकि यही दोनों चंचल अवस्थाएँ मनुष्य को गुरु और लघु बनाती हैं। और वस्तुओं को भी फैलाती समेटती हैं।

राजन्दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेनाम्।
तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण॥

तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपोष्य माणो ।
नानाफलैः फलति कल्पलतेव भूमिः ॥ ४५ ॥

हे नृप ! जो तुम पृथ्वी रूपी गऊ को दुहना चाहते हो, तो बछड़े के भाँति प्रजा लोगों को पालो । जब प्रजा रूपी बछड़ा अच्छी तरह पोषा जायगा तब कल्पलता की तरह यह पृथ्वी अनेक प्रकार के फल देगी । अर्थात् बिना प्रजा के पालन किये राजाओं को लाभ नहीं होता । जहाँ प्रजा दुखी रहती है वहाँ का राजा भी विपन्न रहता है, धरती भी ऊसर हो जाती है । और जहाँ प्रजा को सुख है वहाँ की धरती भी कल्पलता के समान फल देनेवाली होती है ।

सत्यानृता च पुरुषा: प्रियवादिनी च ।
हिंस्रादयालुरपि चार्थपरा वदान्या ॥
नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च ।
वेश्याङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥ ४६ ॥

वेश्या की भाँति राजनीति भी कहीं सत्य कहीं असत्यवादिनी, कहीं कठोर कहीं प्रियभाषिणी, कहीं दयालु, कहीं हिंसा करने वाली, और कहीं संचय करनेवाली कहीं खर्च करनेवाली होती है ।

विद्या कीर्ति पालनं ब्राह्मणानाम् ।
दानं भोगो मित्र संरक्षणं च ॥
येषामेते षड्गुणा न प्रवृत्ताः ।
कोऽर्थस्तेषा पार्थिवोपाश्रयेण ॥४७॥

विद्या, कीर्ति, ब्राह्मण-पालन, दान, भोग, और मित्रों की

रक्षा जो लोग न कर सकें उनको राजा की सेवा का क्या फल मिला ? अर्थात् कुछ भी नहीं।

यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोकं महद्वा धनम् ।
तत्प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ ततो नाधिकम् ॥
तद्धीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं वृथा मा कृथाः ।
कूपे पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलं ॥ ४८ ॥

विधाता ने जो कुछ ललाट में लिख दिया है उससे अधिक नहीं मिलता चाहे मरुस्थल में जाओ या सुमेरु पर्वत पर। इस लिये हे मित्रो ! संतोष धरो और किसी धनी से याचना न करो क्योंकि घड़े को चाहे कुएँ में डाला जाय चाहे समुद्र में सभी स्थानों पर बराबर ही जल निकलेगा। एक बूंद भी घट बढ़ नहीं सकता।

त्वमेव चातकाधारोऽसीति केषां न गोचरः ।
किमम्भोदवरास्माकं कार्पण्योक्तिः प्रतीक्ष्यते ॥४९ ॥

हे श्रेष्ठ मेघ ! यह लोक में प्रसिद्ध है कि तुम्हीं एक मुझ चातक के अधार हो। फिर तुम हमारी दीनता की क्या राह देखते हो ? इस उक्ति द्वारा कवि परमात्मा से कहता है कि हे नाथ ! जब तुम्हीं हमारे एक मात्र संरक्षक हो, तो फिर हमारे माँगने न माँगने पर क्यों जाते हो ? तुम्हें तो बिना कहे ही हमारी रक्षा का ध्यान रखना चाहिये।

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयतां ।
अम्भोदा बहवो वसन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः ॥
केचिद्वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद्वृथा ।
यं यं पश्यसि तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः ॥ ५० ॥

अरे चातक ! तनिक सावधान होकर मेरी बात तो सुन ले। देख आकाश में बहुत से बादल हैं परन्तु सभी ऐसे नहीं हैं जो बरस कर तुझे तृप्ति कर सकें। बहुत तो उनमें ऐसे हैं जो व्यर्थ गर्ज कर ही चले जाते हैं। इसलिये हे मित्र ! जिसको तुम देखो उसके ही आगे दीनता न दिखाओ ! सारांश यह है कि संसार में सभी लोग दीनों की सुधि लेनेवाले नहीं हैं बल्कि बहुत से तो उल्टे मज़ाक भी करनेवाले होते हैं। इस लिये कवि कहता है कि सभी के आगे अपना दुखड़ा नहीं रोना चाहिये। बल्कि अपना दुख उससे कहना चाहिए जो कि उसे दूर करने में समर्थ हो।

अकरुणत्वमकारण विग्रहः ।
परधने परयोषिति च स्पृहा ॥
सुजन बन्धुजनेष्वसहिष्णुता ।
प्रकृति सिद्ध मिदंहि दुरात्मनम् ॥ ५१ ॥

दया न करना, अकारण बैर करना, पराये धन और स्त्री की सर्वदा इच्छा करना, अपने परिवार और मित्रों की सहायता न करना यह दुष्टों की स्वाभाविक आदत है।

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाभूषितो ऽपिसन् ।
मणिनालंकृतः सर्पः किमसौ न भयंकरः ॥ ५२ ॥

यदि दुष्ट विद्यावान भी हो तो तब भी त्यागने योग्य है। क्या मणिवाले सर्प भयंकर नहीं होते ?

जाड्यंह्रीमति गण्यते व्रतरुचौदम्भः शुचौ कैतवम् ।
शूरेनिर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनी ॥

तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्तिः स्थिरे ।
तत्कोनामगुणो भवेत्सगुणिनां यो दुर्जनैर्नङ्कितः ॥५३॥

दुष्ट लोग, लज्जावान को शिथिल, व्रतधारी को दम्भी, पवित्र को कपटी, शूर को निर्दयी, सूधे को मूर्ख, प्रियवादी को चापलूस, तेजस्वी को घमंडी, वक्ता को बकवादी और स्थिर चित्त वाले को आलसी कहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि दुष्ट लोग गुणियों के सभी गुणों में दोष लगाने में प्रवीण हैं।

लोभश्चेद् गुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः ।
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचिमनो यद्यस्ति तीर्थेन किं ॥
सौजन्यं यदि किं गुणैः स्वमहिमा यद्यस्ति किं मंडनैः ।
सद्विद्या यदि किं जनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ॥५४॥

लोभी मनुष्य में और अवगुण क्या चाहिये, जो कुटिल है उसे पाप करने की क्या ज़रूरत, सत्यवक्ता को तप की क्या आवश्यकता है, शुद्ध मन वाले को तीर्थ करने से क्या लाभ, सज्जन पुरुषों को मित्रों की क्या कमी है, यशी पुरुषों को यश से बढ़कर भला कौन उत्तमाभूषण मिल सकता है, विद्यावान को धन की क्या इच्छा होगी और जिसका सर्वत्र अपयश है उसे फिर दूसरी मृत्यु क्या आएगी ?

शशी दिवस धूसरो गलित यौवना कामिनी ।
सरो विगत वारिज मुखमनक्षरं स्वाकृतेः ॥
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो ।
नृपांगणगतः खलो मनसि सप्तशल्यानिमे ॥ ५५ ॥

दिन का मलीन चन्द्रमा, यौवन हीन स्त्री, बिना कमल का

सरोवर, सुन्दर रूप वाला मूर्ख, धनवाला कृपण, सज्जन दरिद्री और राजसभा में दुष्ट ये सब हमारे हृदय में काँटे से भी अधिक गड़ते हैं। अर्थात् ये दुखदायक हो जाते हैं।

न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भूभुजाम्।
होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः॥ ५६॥

क्रोध करनेवाले राजा अपने मित्र को भी नहीं छोड़ते। जैसे होम करनेवाले को भी यदि अग्नि छू जाय तो जला ही देती है।

मौनान्मूकः प्रवचन पटुर्वातुलो जल्पको वा।
धृष्टः पार्श्वे वसति च तदादूरतश्चाप्रगल्भः॥
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः।
सेवा धर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः॥ ५७॥

सेवक मौन रहने पर गूंगा, वक्ता होने पर वातुल, समीप रहने पर ढीठ, दूर रहने से मूर्ख, क्षमा करने पर कायर और न सहने पर कुलहीन कहलाते हैं। तात्पर्य्य यह कि सेवा धर्म ही बड़ा कठिन है। यह योगियों के लिये भी अगम्य है।

उद्भासिताखिलखलस्य विशृङ्खलस्य।
प्राग्जात विस्मृतनिजा धर्म कर्म वृत्तेः॥
दैवादवाप्तविभवस्य गुणाद्विषोऽस्य।
नीचस्य गोचर गतैः सुखमास्यते कैः॥५८॥

पूर्व जन्म के अधम कर्म करनेवाले दुष्ट, धनी और गुणों से द्वेष रखनेवाले नीचों के वश में रहकर किसने सुख पाया है।

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण ।
लघ्वी पुरावृद्धिमती च पश्चात् ॥
दिनस्य पूर्वार्द्ध परार्द्धि भिन्ना ।
छायेव मैत्री खल सज्जनानाम् ॥५६॥

जिस प्रकार दिन के दोपहर के पहिले परछाईं क्रम से घटती जाती है उसी प्रकार दुष्टों की मित्रता भी पहले तो बढ़ी रहती है फिर क्रमशः घटती जाती है और अंत में नाश हो जाती है। ठीक इसके बिलोम सज्जनों की मैत्री भी दोपहर के बाद की परिछाईं की भाँति प्रतिक्षण बढ़ती जाती है।

मृग मीन सज्जनानां तृण जल संतोषविहत वृत्तीनाम् ।
लुब्धकधीवर पिशुनां निष्कारण वैरिणो जगति ॥ ६० ॥

हरिन, मछली और सज्जन ये तीनों तृण, जल और संतोष पर ही अपनी जीविका निर्धारित करते हैं परन्तु व्याध, केवट, और कुटिल लोग उनसे विना प्रयोजन ही संसार में शत्रुता करते हैं।

सम्पत्सुं महतां चित्तं भवत्युत्पलकोमलम् ।
आपत्सु च महाशैलशिला संघातकर्कशम् ॥ ६१ ॥

संपत्ति में महात्माओं का चित्त कमल से भी कोमल रहता है और वही विपत्ति काल में पहाड़ की भाँति कठिन हो जाता है। भाव यह कि सज्जन लोग जब अच्छी दशा में रहते हैं तब दीनों की करुणा पुकार से उनका हृदय द्रवीभूत हो जाता है और जब उनपर विपत्ति आती है तो लाख मुसीबत पड़ने पर भी वे नहीं विचलित होते।

वाञ्छा सज्जनसंगमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता ।
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम् ॥
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्ग मुक्तिः ।
खलेष्वेतेयेषु वसंति निर्मलगुणास्तेभ्योनरेभ्यो नमः॥६२॥

सतसंगति की इच्छा, गुणों से प्रीति, बड़ों से नम्रता, विद्या में व्यसन, अपनी स्त्री से रति लोक निन्दा से भय, परमात्मा में भक्ति, आत्मा को दमन करने की शक्ति और दुष्टों के संग का त्याग ये निर्मल गुण जिन पुरुषों में हों उन्हें हम नमस्कार करते हैं ।

विपत्ति धैर्यमथाभ्युदये क्षमा,
सदसि वाक्य पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ,
प्रकृति सिद्धमिदं हि महात्मानाम् ॥६३॥

विपत्ति में धैर्य्य, ऐश्वर्य्य में क्षमा, सभा के बीच वचन की चतुराई, संग्राम में पराक्रम, यश में रुचि और शास्त्रों में व्यसन ये बातें महात्माओं में स्वाभाविक होती हैं ।

प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते सम्भ्रमविधिः ।
प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः ॥
अनुत्सेको लक्ष्म्या निरभिभवसाराः पर कथाः ।
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधारा व्रतमिदम् ॥ ६४ ॥

दान को गुप्त रखना, आये हुए पुरुषों का स्वागत करना, उपकार करके चुप रहना, कृतज्ञता प्रगट करना, धन पाकर अभिमान न करना और पराई चर्चा में उसके मानापमान का

ध्यान रखना ये तलवार की धार के समान कठिन व्रत का, सत्पुरुषों को न मालूम किसने उपदेश दिया है।

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपाद प्रणयिता।
मुखे सत्या वाणी विजयी भुजयोर्वीर्यमतुलम्॥
हृदि स्वस्था वृत्तिः श्रुतमधिगतैक व्रतफलम्।
विनाप्यैश्वर्येण प्रकृति महतां मण्डनामिदम्॥६५॥

हाथ दान देने से, मस्तक बड़े लोगों के पैर पर गिरने से, मुख सत्य बोलने से, भुजा पराक्रम से, हृदय स्वच्छता से, कान शास्त्र सुनने से बड़ाई के योग्य होते हैं और यही महात्माओं के अमूल्य भूषण हैं।

संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते।
मुक्ताकारतया तदेव नलिनि पत्रस्थितं राजते॥
स्वात्या सागर शुक्ति मध्यपतितं तन्मौक्तिकं जायते।
प्रायेणाधम मध्यमोत्तम गुणाः संसर्गतो देहिनाम्॥६६॥

जलते हुए लोहे पर पानी पड़ने पर उसका नाश हो जाता है, वही बूंद कमल-पत्र पर पड़ने से मोती की भाँति चमकता है, और फिर वही बूंद स्वाती नक्षत्र में समुद्र की सीप में पड़ने से साक्षात् मोती हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रायः उत्तम मध्यम आदि गुण संसर्ग से ही होते हैं।

यः प्रीणयेत्सु चरितैः पितरं स पुत्रो।
यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम्॥
तन्मित्रमापादि सुखे च समक्रियं य।
देतत्रयं जगति पुण्याकृतो लभन्ते॥६७॥

ऐसे पुत्र जो अपने आचरण से अपने पिता को प्रसन्न रक्खे, ऐसी स्त्री जो अपने पति का निरन्तर हित चाहे और ऐसा मित्र जो दुख सुख में समान भाव रक्खे, ये तीनों पुण्यवान पुरुष को ही मिलते हैं।

एको देवो केशवो वा शिवो वा,
एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा।
एको वासः पत्तने वा वने वा,
एका नारी सुन्दरी वा दरी वा॥६८॥

किसी एक देवता को इष्ट करना चाहिए चाहे वह केशव हों या शिव हों, एक मित्र करना चाहिये चाहे वह राजा हो या फ़कीर हो, एक ही स्थान पर रहना चाहिये चाहे जंगल हो या नगर हो और एक ही स्त्री से प्रेम करना चाहिये चाहे वह सुन्दरी हो या कन्दरा हो। कवि का भाव यह है कि—"हो मृगनैनी या हो मृगछाला।" अर्थात् अत्यन्त सुख ही हो या अत्यन्त दुख हो।

नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुण कथनैः स्वान्।
गुणान् ख्यापयन्तः स्वार्थान् सम्पादयन्तो॥
वितत प्रियतरारम्भयत्नाः परार्थे।
क्षान्त्यैवाक्षेपरूक्षाक्षर मुखर मुखान् दुर्जना॥
दुषयन्तः सन्तः साश्चर्यचर्या जगति।
बहुमताः कस्य नाभ्यर्चनीयाः॥ ६९॥

नम्रता से ऊँचे होते हैं, दूसरों की प्रशंसा करके अपनी गुण ग्राहकता का परिचय देते हैं, परोपकार करते हुए अपने कार्य्य

को साधन करते हैं और निन्दक तथा कुटिल लोगों को अपनी क्षमा से दूषित कर देते हैं, ऐसे श्रेष्ठ आचरण वाले माननीय सन्त संसार में किसके पूजनीय नहीं होते? अर्थात् सभी उनकी पूजा करते हैं!

भवंति नम्रस्तरवः फलोद्गमै–
नवाम्बुभिर्भूरि विलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः,
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥७०॥

जिस प्रकार फल होने पर वृक्ष नम्र हो जाते हैं, नवीन जल भरने से मेघ झुक जाता है वैसे ही सत्पुरुष लोग भी संपत्ति पाकर उद्धत नहीं होते बल्कि अधिक नम्र हो जाते हैं। सारांश यह कि परोपकारी जीवों का यह स्वभाव ही होता है।

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन दानेन पाणिर्नतु कंकणेन।
विभातिकायः करुणापराणां परोपकारैर्नतु चन्दनेन ॥७१॥

कान की शोभा शास्त्र सुनने से होती है न कि कुण्डल पहिरने से, हाथ की शोभा दान देने में है न कि कंकण पहिनने में, इसी प्रकार शरीर की शोभा उपकार करने से होती है न कि चन्दन लगाने से।

पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यं च गूहति गुणान् प्रकटी करोति।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥७२॥

मित्र को पाप करने से बचावे, उसकी भलाई की शिक्षा

दे, उसकी गुप्त बातों को छिपावे, गुणों को प्रकट करे और विपत्ति काल में भी उसका साथ न छोड़े तथा यथा शक्ति उसकी द्रव्य से भी सहायता करे। यही मित्रों का लक्षण है।

पद्माकरं दिनकरो विकची करोति,
चन्द्रो विकासयति कैरव चक्रवालम्।
नाभ्यर्थितो जलधरोऽपिजलं ददाति,
सन्तः स्वयं परहिते सुकृताभियोगः ॥७३॥

विना माँगे ही सूर्य्य कमलों को विकसित करता है, चंद्रमा भी विना कहेही किसी को प्रफुल्लित करता है और मेघ भी विना याचना किये ही पराये के हित वर्षा करता है। उसी प्रकार सन्त लोग भी विना माँगे ही लोगों की भलाई किया करते हैं।

एके सत्पुरुषः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थ विरोधेन ये॥
तेऽमीमानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥७४॥

उत्तम पुरुष वे हैं जो अपना स्वार्थ छोड़कर दूसरों के कार्य करते हैं, मध्यम श्रेणी के पुरुष वे हैं जो अपने स्वार्थ को साधते हुए भी परोपकार करते हैं और जो अपने स्वार्थ के लिये दूसरों का काम बिगाड़ते हैं उन्हें मनुष्य के रूप में राक्षस समझना चाहिये। और जो विना किसी प्रयोजन के दूसरों के कार्य्य की हानि करते हैं उन्हें क्या कहा जाय। यह तो हमारी समझ में नहीं आता।

कर्मायत्तं फलंपुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।
तथापि सुधिया भाव्यं सुविचार्यैव कुर्वता ॥ ७५ ॥

यद्यपि पुरुषों को फल कर्म के अनुसार ही मिलता है और बुद्धि भी कर्मानुसार ही होती है परन्तु फिर भी पण्डितों को सोच विचार करके ही कर्म करना उचित है।

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः ।
क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन पयसा ह्यात्मा कृशानौ हुतः ॥
गन्तुं पावक मुन्मनास्तद भव दृष्ट्वा तु मित्रापदम् ।
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी ॥ ७६ ॥

दूध में जब जल मिला तो दूध ने अपना रूप और गुण अपने मित्र रूपी जल को दे दिया, अर्थात् जल भी उज्ज्वल होकर दूध के भाव बिक गया। पर जब इस दूध-जल को एकत्र कर अग्नि पर चढ़ा दिया जाता है तो मित्र रक्षा का ध्यान रख पहले जल ही जलता है जब जल समाप्त हो जाता है तो दूध को भी मित्र बिना रहना उचित नहीं मालूम होता, इसलिये वह अपने को भी उबल कर आग में गिराने लगता है। किन्तु ऊपर से शीतल जल का छींटा पाकर फिर वह शान्त हो जाता है। ठीक ही है सत्पुरुषों का यही नियम है।

इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषा ।
मितश्च शरणार्थिनः शिखरिणां गणाः शेरते ॥
इतोऽपि बडवानलः सह समस्त संवर्तकै ।
रहो विततमूर्जितं भरसहं च सिंधोर्वपुः ॥ ७७ ॥

समुद्र में एक तरफ विष्णु विश्राम कर रहे हैं, दूसरे तरफ पर्वतों के समूह पड़े हैं और समीप ही बड़वानल भी जला रहा है, पर समुद्र को कुछ भी नहीं जान पड़ता। क्योंकि वह विशाल काय और बलवान है। सत्पुरुष भी समुद्र के ही सदृश्य होते हैं।

तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः।
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनम् ॥
मान्यानमानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रख्यापय स्वान्गुणान्।
कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत्सतां लक्षणम् ॥ ७८ ॥

तृष्णा को त्यागना, क्षमा करना, मद का विरोध, पाप से शत्रुता, सत्याचरण, निज मर्य्यादा में रहना, पंडितों की सेवा करना, मानियों को मानना, शत्रुओं को भी खुश रखना, कीर्ति स्थिर रखते हुए अपने गुणों को प्रसिद्ध करना, दीनों पर दया करना ये ही सत्पुरुषों के लक्षण हैं।

मनसि वचसि काये पुण्य पीयूष पूर्णा।
स्त्रिभुवनमुपकार श्रेणिभिः प्रीणयन्तः ॥
परगुण परमाणून्पर्वतीकृत्य कित्यम्।
निज हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥ ७९ ॥

मन, वचन और शरीर में भरे हुए तिल भर भी पुण्य रूपी अमृत को पर्वत के समान बढ़ाकर त्रिभुवन को उपकारों से तृप्ति करनेवाले बिरले ही होते हैं।

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुर्यं कृत्वा नावसीदति ॥ ८० ॥
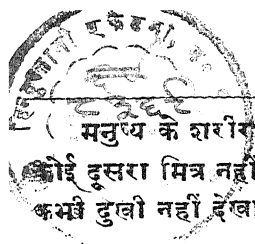
मनुष्य के शरीर में आलस ऐसा शत्रु और उद्यम ऐसा कोई दूसरा मित्र नहीं है। क्योंकि उद्यम करनेवाले मनुष्यों को कभी दुखी नहीं देखा गया है।

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा।
यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्त एव॥
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण।
कंकोल निम्ब कुटजा अपि चन्दनास्युः॥ ८१॥

हमको सोने के सुमेरु और चाँदी के कैलास से कुछ प्रयोजन नहीं है, जिनके आश्रित वृक्ष जैसे के तैसे ही बने रहते हैं। हम तो मलयागिरि को ही श्रेष्ठ जानते हैं कि जहाँ कंकोल, नींब और कुटजादि तीते वृक्ष भी सुगंधित हो जाते हैं।

रत्नैर्महार्हैस्तुतुषुर्न देवा,
न भेजिरे भीम विषेण भीतिम्॥
सुधां विना न प्रययुर्विरामम्,
न निश्चितार्था द्विरमन्ति धीराः॥ ८२॥

अनमोल रत्न पाकर सन्तुष्ट नहीं हुए और भयानक विष पाकर भयभीत भी न हुए बल्कि देवता लोग समुद्र मथने में उस समय तक उद्योग करते रहे जब तक कि अमृत नहीं निकला। सारांश यह कि धीर लोग विना अभीष्ट सिद्ध किये कार्य्य नहीं छोड़ते।

क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनम्।
क्वचिच्छाकाहारः क्वचिदपि शाल्योदनरुचिः॥

क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बर धरो।
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखं ॥ ८३ ॥

जो लोग मनस्वी और कार्य्यार्थी होते हैं वे सुख दुख को नहीं गिनते। मौका पड़ने पर कभी तो भूमि पर ही सो रहते हैं और कभी पलंग पर शयन करते हैं। कभी साग पात पर ही निर्वाह करते हैं और कभी अच्छे अच्छे पदार्थों का भोजन करते हैं। समय आने पर कभी तो गुदड़ी के टुकड़े को ही ओढ़कर दिन बिताते हैं तो कभी सुन्दर वस्त्र धारण करते हैं।

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो।
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्यपात्रे व्ययः ॥
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता।
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम् ॥८४॥

ऐश्वर्य का भूषण सज्जनता, शूरता का वाक्यसंयम अर्थात् निरभिमान, ज्ञान का शान्ति, शास्त्र पढ़ने का क्षमा, धर्म का निश्छलता और सब गुणों का आभूषण केवल शील है।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वास्तुवन्तु।
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ॥
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा।
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥ ८५ ॥

नीति के जाननेवाले चाहे प्रशंसा करें या निन्दा, घर में धन आवे या जाय, आज मरें या कल्पान्त में परन्तु धीर लोग न्याय के मार्ग से एक पग भी विचलित नहीं होते।

भग्नाशस्य करण्डपीडित तनोर्म्लानेन्द्रियस्य क्षुधा।
कृत्वाखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः॥
तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा।
लोकाः पश्यत दैवमेव हि नृणां वृद्धौक्षयेकारणम् ॥८६॥

जीवन से निराश, भूख से आतुर सर्प पिटारे में कैद है। रात को चूहा उस पिटारे में छेद करके पहुँच जाता है और आप ही से उस क्षुधातुर सर्प का भोजन बन जाता है। फिर तो वह सर्प अपनी भूख मिटा उसी छिद्र द्वारा बाहर निकल जाता है। देखो क्षय और वृद्धि का प्रधान कारण दैव अर्थात् भाग्य ही है।

छिन्नोऽपि रोहति तरुः क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः।
इति विमृशन्तः संतः संतप्यंते न विलुप्ता लोके ।८७॥

छाँटा हुआ वृक्ष फिर से बढ़ सकता है, क्षीण चन्द्रमा फिर पूरा हो जाता। यही देख संत लोग विपत्ति से नहीं घबड़ाते कि फिर भी दिन फिरेंगे।

नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः।
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः किल हरेरैरावतो वारणः॥
इत्यैश्वर्य बलान्वितोऽपि बलिभिर्भग्नः परैः संगरे॥
तद्व्यक्तं वरमेव दैव शरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम् ॥ ८८ ॥

बृहस्पति ऐसे मंत्री, वज्र ऐसा शस्त्र, देवताओं की सेना, स्वर्ग ऐसा गढ़, ऐरावत की सवारी, विष्णु का पूर्ण अनुग्रह प्राप्त करके भी महा ऐश्वर्य शाली इन्द्र युद्ध में हारते ही रहे। इससे सिद्ध हुआ कि भाग्य ही सब कुछ है पुरुषार्थ व्यर्थ है।

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः संतापितो मस्तके ।
वांछं देशमनातपं विधिवशात्तालस्य मूलं गतः ॥
तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्नं सशब्दं शिरः ।
प्रायो गच्छतियत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यात्यापदः ॥८९॥

चंदुल मनुष्य का सिर सूर्य्य की किरणों से जलने लगा वह छाया की इच्छा करके एक ताड़ के वृक्ष के नीचे गया । वहाँ ऊपर से एक ताड़फल उसके ऊपर गिर पड़ा जिससे कि उसका सिर फट गया । इससे सिद्ध हुआ कि अभागा आदमी जहाँ जाता है विपत्ति भी साथ ही जाती है ।

शशिदिवा करयोर्ग्रह पीडनम्,
गजभुजंगमयोरपि बंधनम् ।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रताम्,
विधिरहो वलवानिति मे मतिः ॥ ९० ॥

चन्द्रमा और सूर्य्य को राहु से ग्रसित तथा हाथी और सर्प को बंधन में बँधा देखकर और बुद्धिमानों को दरिद्र देख कर हमको विश्वास होता है कि विधाता ही (भाग्य ही) सर्वश्रेष्ठ है ।

सृजति तावदशेष गुणाकरं,
पुरुषरत्नमलंकरणं भुवः ।
तदपि तत्त्क्षणभंगि करोति चे,
दहह कष्टम पण्डितता विधेः ॥ ९१ ॥

ब्रह्मा पुरुषों को सर्वगुण सम्पन्न करके पृथ्वी का भूषण बनाते हैं किन्तु खेद है कि उसके शरीर को क्षण भंगुर बनाते हैं इससे उनकी मूर्खता सिद्ध होती है।

पत्रं नैव यदा करीर विटपे दोषो वसन्तस्य किम्।
नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्य्यस्य किं दूषणम्॥
धारा नैव पतन्ति चातक मुखे मेघस्य किं दूषणम्।
यत्पूर्वं विधिना ललाट लिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः॥९२॥

करीर के पेड़ में पत्ते नहीं लगते तो इसमें वसंत का क्या दोष है? उल्लू दिन को नहीं देखता तो इसमें सूर्य का क्या दोष है? जल की धारा चातक के मुंह में नहीं पड़ती तो मेघ का क्या दोष है? विधाता ने जो भाग्य में लिख दिया है भला उसे कौन मिटा सकता है।

नमस्यामो देवनन्न तुहतविधेस्तेऽपि वशगा।
विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियत कर्मैकफलदः॥
फलं कर्मायत्तं किममरगणैः किं च विधिना।
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न प्रभवति॥ ९३॥

देवताओं को हम प्रणाम करते हैं, पर वह तो ब्रह्मा के आधीन हैं। और ब्रह्मा भी हम को पूर्व कर्मानुसार फल देते हैं इसलिये फल और ब्रह्मा दोनों ही कर्म के आधीन हैं। इस कारण हम कर्म ही सर्व श्रेष्ठ मानते हैं जिस पर कि ब्रह्मा का भी वश नहीं चलता।

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्ड भाण्डोदरे।
विष्णुर्येन दशावतार गहने क्षिप्तो महासंकटे॥

रुद्रो येन कपाल पाणि पुटके भिक्षाटनं कारितः ।
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥ ६४ ॥

जिस कर्म ने ब्रह्मा को कुम्हार के सदृश्य ब्रह्माण्ड रचने, विष्णु को अवतार ग्रहण करने, महादेव को कपाल हाथ में लेकर भिक्षा माँगने को और सूर्य को नित्य चक्कर लगाने को मजबूर किया उस कर्म को प्रणाम है ।

नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलम् ।
विद्यापि नैव न च यत्नकृतापि सेवा ॥
भाग्यानि पूर्वतपसा खलु संचितानि ।
काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः ॥ ६५ ॥

मनुष्यों को सुन्दर आकृति, उत्तम कुल, शील, विद्या और यत्न से की हुई सेवा से कुछ लाभ नहीं होता बल्कि पूर्व जन्म की संचित की हुई तपस्या ही समय समय पर वृक्ष की भाँति उत्तम-उत्तम फल देती है ।

वने रणे शत्रु जलाग्निमध्ये,
महार्णवे पर्वत मस्तके वा ।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा,
रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ॥ ६६ ॥

वन, रण, शत्रु, जल, अग्नि, समुद्र और पर्वतों के शिखरों में संकट के समय सोते हुए असावधान और विषमावस्था में केवल पूर्व जन्म के पुण्य ही मनुष्यों की रक्षा करते हैं ।

या साधूंश्च खलान्करोति विदुषो मूर्खान्हितान्द्वेषिणः ।
प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात् ॥

तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं फलं वाञ्छितम् ।
हे साधो व्यसनैर्गुणेषु विपुलेष्वास्थां वृथा माकृथा ॥ ६७ ॥

जो सत्क्रिया दुष्टों को साधुता देती है, मूर्खों को पंडितता, शत्रुओं को मित्रता, गुप्त बातों को प्रगट और विष को अमृत बनाती है। हे साधो! यदि वाञ्छित फल भोगा चाहते हो तो हठ और कष्ट से अनेक गुणों के साधन में व्यर्थ समय नष्ट न करो बल्कि इसी सत्क्रिया रूपी भगवती की आराधना करो अर्थात् श्रेष्ठ आचरण वाले बनो।

गुणवद् गुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ,
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ।
अतिरभस कृतानां कर्मणामाविपत्ते,
र्भवति हृदय दाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥६८॥

कार्य योग्य हो या अयोग्य, करनेवालों को परिणाम पर विचार कर लेना चाहिये विना विचारे शीघ्रता से किये गये काम का फल मरण पर्यन्त हृदय को जलाता और काँटे की तरह खटकता रहता है।

स्थाल्यां वैदूर्यमय्यांपचति च लशुनं चंदनैरिंधनौघै ।
सौवर्णैर्लाङ्गलाग्रैर्वि लखति वसुधामर्क मूलस्य हेतोः ॥
छित्वा कर्पूरखंडान्वृतिमिह कुरुते कोद्रवाणां समंतात् ।
प्राप्येमा कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मंदभाग्यः ॥ ६९ ॥

वह पुरुष मानो मर्कतमणि के बरतन में लहसुन को चंदन के इंधन से पकाता है और खेत में सोने का हल चलाकर मदार की जड़ को जलाने के लिये निकालता है तथा कपूर के

ढोके काटकर कोदों के खेत की मेंड बनाता है जो इस कर्मभूमि में आकर तप नहीं करता।

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानम,
सर्वो जनः सुजनतामुपयाति तस्य।
कृत्स्ना भूर्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा,
यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य ॥ १०० ॥

जिस मनुष्य के पास पूर्व जन्म के बहुत से पुण्य हैं, उस मनुष्य के लिये भयानक वन भी अच्छे नगर के समान हो जाता है। सभी लोग उसके मित्र हो जाते हैं और सम्पूर्ण बसुंधरा भी उसके लिये रत्नपूरित हो जाती है।

मज्जत्वम्भसि यातु मेरुशिखरं शत्रुंजयत्वाहव।
वाणिज्यं कृषिसेवनादि सकला विद्याः कलाः शिक्षतु॥
आकाशं विपुलं प्रयातु स्वगवत्कृत्वा प्रयत्नं परम्।
नाभाव्यंभवतीह कर्मवशतो भाव्यस्य नाशः कुतः ॥१०१॥

चाहे समुद्र में कूदो, चाहे सुमेर के शिखर पर जाओ, चाहे भयंकर युद्ध में रिपुओं को जीतो, चाहे वनिज कृषी सेवा आदि नाना तरह की कलाओं की शिक्षा में मन दो। और चाहे सावधानी से आकाश में उड़ो पर अनहोनी नहीं होती और जो कर्म-वश होनी है वह मिटती भी नहीं।

को लाभो गुणि संगमः किमसुखं प्राज्ञेतरैः संगतिः।
का हानिः समयच्युतिर्निपुणता का धर्मतत्वे रतिः॥
कः शूरो विजितेन्द्रियः प्रियतमा कानुव्रता किं धनम्।
विद्यां किं सुगमप्रवासगमनं राज्यंकिमाज्ञाफलं ॥१०२॥

लाभ क्या है ? गुणियों की संगति । दुख क्या है ? मूर्खों का साथ । हानि क्या है ? समय पर चूकना । निपुणता क्या है ? धर्म में प्रेम होना । शूर कौन है ? जिसने इन्द्रियों को वश में किया है । स्त्री कौन उत्तम है ? जो अनुकूल हो । धन क्या है ? विद्या । सुख क्या है ? परवश न होना और राज क्या है ? अपनी इच्छा के अनुसार रहना ।

अप्रिय वचनदरिद्रैः प्रिय वचनाढ्यैः स्वदार परितुष्टैः ।
परपरिवाद निवृत्तैः क्वचित्क्वचिन्मण्डिता वसुधा ॥१०३॥

अप्रिय बोलनेवाले दरिद्र, प्रियभाषी धनी, अपनी ही स्त्री से रति करनेवाले और पराई निन्दा से रहित पुरुष सभी स्थान नहीं होते । इनसे कहीं-कहीं पृथ्वी शोभायमान है ।

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्ते-
नशक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम् ।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वन्हे-
र्नाधः शिखा याति कदाचिदेव ॥१०४॥

दुखी मनुष्य यदि धैर्य्यवान हो जाय तो उसके धैर्य्य को कोई मिटा नहीं सकता । जैसे कोई प्रज्वलित अग्नि को उलट भी दे तो भी उसकी ज्वाला ऊपर ही जाती है, नीचे नहीं ।

एकेनापि हि शूरेण पादाक्रान्तं महीतलम् ।
क्रियते भास्करेणेव परिस्फुरिततेजसा ॥ १०५ ॥

जिस प्रकार सूर्य्य अकेले ही अपनी किरणों से समस्त संसार को प्रकाशमान कर देता है, उसी प्रकार एक ही वीर अपनी शूरता और पराक्रम-साहस से सारी पृथ्वी को अपने पैरों तले कर लेता है अर्थात् अपना अधिकार जमा लेता है ।

इससे सिद्ध हुआ कि साहस और पराक्रम से कोई काम कठिन नहीं है।

कान्ताकटाक्ष विशिषा न दहन्ति यस्य,
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः।
कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशै,
लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ॥ १०६ ॥

स्त्रियों के नेत्रबाण जिसे नहीं छेदते, क्रोधरूपी अग्नि जिसके चित्त को नहीं जलाती और इन्द्रियों के विषय लोभ फाँस जिसके मन को नहीं खींचते वही पुरुष तीनो लोकों को जीतते हैं।

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणात्।
मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरंगायते ॥
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूष वर्षायते।
यस्यांगेऽखिल लोक वल्लभतमं शीलं समुन्मीलति ॥ १०७॥

जिस मनुष्य के मन में विश्वविमोहक शील विराजमान है उसके लिये अग्नि, जल, समुद्र छोटी नदी सा, मेरु पर्वत पत्थर के खण्ड के समान, सिंह हरिण सर्प फूलों का हार और विष अमृत के समान हो जाता है।

लज्जा गुणौघ जननीं जननीमिव स्वा।
मत्यन्त शुद्ध हृदया मनुवर्तमानाम् ॥
तेजस्विनः सुखमसूनपि सन्त्यजन्ति।
सत्यव्रत व्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥ १०८ ॥

तेजस्वी और सत्यव्रत के धारण करनेवाले पुरुष, लज्जादि गुणों को उत्पन्न करनेवाली अपनी माता के समान शुद्ध हृदय वाली स्वतंत्र प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ते चाहे इसके लिये उन्हें अपना प्राण ही क्यों न छोड़ना पड़े। सारांश यह है कि धीर लोग 'प्राण जायँ पर वचन न जाहीं' को सत्य कर दिखाते हैं।

द्वितीय खण्ड

शृंगारशतकम्

शम्भुस्वयंभु हरयो हरिणेक्षणानाम्,
येनाक्रियन्ते सततं गृहकर्मदासाः ।
वाचामगोचर चरित्र विचित्रिताय,
तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय ॥ १ ॥

जिसने शिव, ब्रह्मा और विष्णु को भी स्त्रियों के गृहकार्य करने के लिये दास बना रक्खा है और जो विचित्र में चतुर है, उस पुष्पायुध कामदेव को नमस्कार है ।

स्मितेन भावेन च लज्जया भिया,
पराङ्गमुखैरर्द्ध कटाक्ष वीक्षणैः ।
वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया,
समस्त भावैः खलु बन्धनं स्त्रियः ॥ २ ॥

मुसुकाकर, लज्जित होकर, मुख फेरकर, कटाक्ष करके, मधुर वचनों से, ईर्ष्या से कलह करके स्त्रियाँ पुरुषों को बंधन में जकड़ देती हैं ।

भ्रूचातुर्यां कुंचिताक्षाः कटाक्षाः,
स्निग्धा वाचो लज्जिताश्चैव हासाः ।
लीलामंदं प्रस्थितं च स्थितं च,
स्त्रीणामेतद् भूषणं चायुधं च ॥ ३ ॥

स्त्रियों के भौहँ फेरना, अर्द्ध नेत्र से कटाक्ष करना, मधुर बोलना, लजाकर हँसना, ठुमुक-ठुमुक चलना और घूमकर खड़े हो जाना ये ही सुन्दर हथियार हैं । अर्थात् स्त्रियाँ इन्हीं भावों से पुरुषों को मार डालती हैं अर्थात् वश में कर सकती हैं ।

क्वचित्सुभ्रूभंङ्गैः क्वचिदपि च लज्जा परिणतैः ।
क्वचिद्भीति त्रस्तैः क्वचिदपि च लीला विलसितैः ॥
नवोढानामेभिर्वदन कमलैर्नेत्र चलितैः ।
स्फुरन्नीलाब्जाना प्रकरपरिपूर्णा इव दशः ॥ ४ ॥

कभी सुन्दर भौहँ से कटाक्ष करता, लज्जा से शोभित होता, कभी डर से डरता और कभी लीला से विलास करता है ऐसे नीले कमल के समान नवीन स्त्रियों के नेत्र सर्वत्र अपना प्रभाव फैलाते हैं ।

वक्त्रं चन्द्रविकासि पंकजपरिहासक्षमे लोचने ।
वर्णः स्वर्णमपाकरिष्णुरलिनिजिष्णुः कंचनांचयः ॥
वक्षो जाविभिकुम्भ सम्भ्रमहरो गुर्वी नितम्बस्थली ।
वाचां हारि च मार्दवं युवतिषु स्वाभाविकं मण्डनं ॥ ५ ॥

चन्द्र को फीका करनेवाला मुह, कमल को हँसाने वाला नेत्र, सोने को फीका करनेवाली कान्ति, भौंरों का जीतने वाले केश, गज-मस्तक की शोभा हरनेवाले कुच और उच्च नितम्ब, ये ही स्त्रियों के स्वाभाविक आभूषण हैं ।

स्मितं किञ्चिद्वक्त्रे सरल तरलो दृष्टि विभवः ।
परिष्यन्दो वाचामभिनव विलासोक्ति सरसः ॥
गतीनामारम्भः किसलयति लीला परिकरः ।
स्पृशन्त्या स्तारुण्यं किमहि नहि रम्यं मृगदृशः ॥ ६ ॥

मंद मुसकानेवाला मुंह, चंचल दृष्टि, विलास-युक्त सरस बातें, धीमी चाल और अनमनी रीति आदि युवावस्था चढ़ते ही स्त्रियों में कौन-कौन से हाव भाव नहीं आ जाते ?

द्रष्टव्येषु किमुत्तमं मृगदृशा प्रेम प्रसन्नं मुखं ।
घ्रातव्येष्वपि किं तदास्यापवनः श्राव्येषु किं तद्वचः ॥
किंस्वादयेषु तदोष्टपल्लवरसः स्पृश्येषु किं तत्तनु ।
ध्येयं किं नवयौवनं सुहृदयैः सर्वत्र तद्विभ्रमः ॥७॥

रसिकों को देखने योग्य उत्तम वस्तु क्या है ? मृगनैनी स्त्रियों का प्रेम से प्रसन्न मुख सूंघने की वस्तु क्या है ? उनके मुख की भाफ, सुनने योग्य वस्तु कौन है ? स्त्रियों की मधुर वाणी, स्वादिष्ट वस्तु क्या है ? स्त्रियों के अधर पल्लव का मधुर रस स्पर्श योग्य कौन सी वस्तु है ? उनका कुच और ध्यान करने योग्य कौन सी चीज़ है ? स्त्रियों का यौवन-विलास ।

एताः स्खलद्वलयसंहति मेखलोत्थ,
झंकार नूपुर स्वाहृत राज हंस्यः ।

कुर्वन्ति कस्य न मनो विवशं तरुण्यो,
वित्रस्तमुग्धहरिणी सदृशैः कटाक्षैः ॥ ८ ॥

जिन स्त्रियों के कंकण का शब्द, क्षुद्र घंटिकों की ध्वनि और नूपुर की झंकार राज-हंसनियों की चाल को जीत लिया है, वे भड़की हुई हरिणी के समान नेत्र पातकर किसके मन को वश में नहीं कर लेतीं? अर्थात् सभी को वशीभूत कर लेती हैं।

कुंकुम पंक कलंकितदेहा गौरपयोधर किम्पत हारा।
नूपुर हंसरणत्पदपद्मा कं न वशीकुरुते भुवि रामा ॥ ९ ॥

केसर और चंदन से चर्चित अंगवाली स्त्री, जिसके गोरे स्तनों पर हार झूमता है और जिसके चरण-कमल के नूपुर हंस के समान बोलते हैं। इस संसार में किसको नहीं वश में कर लेती?

नूनं हि ते कविवरा विपरीत बोधा,
ये नित्यमाहुरबला इति कामिनीनाम्।
याभिर्विलोल तरतारक दृष्टिपातैः,
शक्रादयोऽपि विजिता स्त्वबलाः कथंताः ॥ १० ॥

वे कवि जिन्होंने स्त्रियों का नाम अबला रक्खा है वे अवश्य उलटी समझ के आदमी हैं। भला जिनकी केवल चंचल पुतलियों के कटाक्ष से ही इन्द्रादिक हार मानते हैं, भला वह अबला कैसे ठहरीं?

नूनमाज्ञा करस्तस्याः सुभ्रुवो मकरध्वजाः।
यतस्तन्नेत्र संचारसूचितेषु प्रवर्तते ॥ ११ ॥

मालूम होता है कि कामदेव स्त्रियों के सेवक हैं। तभी तो जिसे वह आँखों से सैन कर देती हैं, उसे कामदेव वशीभूत कर लेते हैं।

केशाः संतमिनः श्रुतेरपि परं पारं गते लोचनो।
अंतर्वक्रमपि स्वभावशुचिभिः कीर्णं द्विजानां गणैः॥
मुक्तानां सतताधिवासरुचिरं वक्षोज कुम्भद्वत।
मित्थं तन्वि वपुः प्रशान्तमपि ते क्षोभं करोत्येवनः॥१२॥

केश संयमी हैं, अर्थात् सुगंधित-तैलों द्वारा सजाये हैं। तुम्हारे श्रुति (कान) भी बड़े मनोहर हैं मुख भी पवित्र हैं और चमकते हुए दाँतों से भरा है, तुम्हारे कुच-कलश में मुक्ता का वास है और तुम्हारे हृदय पर मोतियों की माला सुशोभित है। अर्थात् हे सूक्ष्मांगी! तुम्हारे शरीर पर जब संयमी (बाल), श्रुति (कान), शुचि (मुंह), द्विज-ब्राह्मण (दाँत), मुक्ता (कुच) और मोतियों का हार उपस्थित हैं तो फिर विरक्त पुरुषों पर भी अनुराग क्यों न उत्पन्न हो?

मुग्धे धानुष्कता केऽतमपपूर्वा त्वयि दृश्यते।
यथा हरसि चेतांसि गुणैरेव न सातकेः॥ १३॥

हे सुन्दरी! तेरा यह विचित्र चरित्र देख पड़ता है कि तू चित्त को अपनी चतुरता रूपी प्रत्यंचा से ही बेध देती है। बाण की ज़रूरत ही नहीं पड़ती।

सति प्रदीपे त्यग्नौ सत्सु तारारवन्दिषु।
विना मे मृगशावाक्ष्ता तमो भूतमिदं जगत्॥ १४॥

मुझको, दीपक, अग्नि, तारे, सूर्य्य और चंद्रमा के रहते हुए भी बिना मेरी मृगनैनी स्त्री के, सारा संसार अँधेरा जान

पड़ता है अर्थात् विना सुन्दरी-स्त्री के संसार की कोई बात नहीं रुचती।

यद्वृत्तः स्तनभार एष तरले नेत्रे चले भ्रूलते।
रागान्धेषु तदोष्ठपल्लवमिदं कुर्वन्तु नामव्यथाम्॥
सौभाग्याक्षर पंक्तिरेव लिखिता पुष्पायुधेन स्वयम्।
मध्यस्थापि करोति तापमधिकं रोमावली केन सा॥ १५॥

उन्नत उरोज, चंचल नेत्र, बक्र भौंहें और नवीन पत्ते के सदृश मद भरे दोनों अधर पल्लव अगर रसिकों को पीड़ित करें तो करें। किन्तु कामदेव के हाथों से लिखो सौभाग्य अक्षरों की क़तार के समान मध्यस्थ रोमावली क्यों अधिक ताप देती है? भाव इसका यह है कि उन्नत, चंचल और रागवान तो प्रायः पीड़ा देते ही हैं परन्तु मध्यस्थ रोमावली, जिसका काम बचाने का है, क्यों अधिक दुख देती है?

गुरुणा स्तन भारेण मुखचन्द्रेण भास्वता।
शनैश्चराभ्यां पादाभ्यां रेजे ग्रहमयीव सा॥ १६॥

स्त्रियाँ ग्रहमयी हुआ करती हैं। अर्थात् स्तनों की गुरुता के कारण वृहस्पति के समान प्रकाशमान होने के कारण सूर्य्य के सदृश, मंदगामी होने के कारण शनीश्चर सी और चन्द्र-मुख के कारण चन्द्रमा के समान शोभा पाती हैं।

तस्याः स्तनौ यदि घनौ जघनंहि वारि,
वक्रं च चारु तव चित्त किमाकुलत्वम्।
पुण्य कुरुष्व यदि तेषु तवास्ति वांछा,
पुण्यैर्विना न हि भवन्ति समीहितार्थाः॥ १७॥

हे चित्त ! स्त्रियों के पुष्ट कुचों, विहार करने योग्य जंघाओं और सिंदूर-युक्त सुन्दर मुख को देखकर क्यों व्याकुल होता है ? यदि तुम्हारी इच्छा इन्हें पाने की है तो पुण्य कर। क्योंकि विना पुण्य किये मनोरथ सिद्ध नहीं होते।

मात्सर्यं मुत्सार्य विचार्य कार्य,
आर्याः समर्यादमिदं वदन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किल भूधराणामुत,
स्मर स्मेर विलासिनी नाम् ॥ १८ ॥

हे पण्डितो ! मत्सरता त्याग कर मर्यादा सहित विचार कर उत्तर दो कि पहाड़ के नितम्ब (खोह या गुफा) सेवन योग्य है, या काम के उमंग से अठिलाती हुई विलासिनी स्त्रियों के नितम्ब ?

मुखेन चन्द्रकान्तेन महानीलैः शिरोरुहैः ।
पाणिभ्यां पद्मरागाभ्यां रेजे रत्न मयीवी सा ॥ १६ ॥

स्त्रियाँ रत्नमय हैं, क्योंकि उनका मुंह तो चन्द्रकान्त मणि के समान, केश महानील मणि के समान और हाथ पद्मराग मणि के समान होते हैं।

संमोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति,
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति ।
एताः प्रविश्य सदयं हृदयंनराणां,
किं नाम वाम नयना न समाचरन्ति ॥ २० ॥

स्त्रियाँ, मोह लेती हैं, मत्त कर देती हैं, विडम्बना कराती हैं, डाँट बताती हैं, रमण कराती हैं और बिरह का विषाद भी

उत्पन्न कराती हैं अर्थात् यह स्त्रियाँ, मनुष्य के सदय-हृदय में पैठ कर न मालूम क्या-क्या नहीं करती हैं।

संसारेऽस्मिन्नसारे परिणति तरले द्वै गती पण्डितानां।
तत्वज्ञानामृताम्भः प्लुतललित धियायातु कालः कदाचित ॥
नो चेन्मुग्धां गनानां स्तन जघनभराभोग संभोगिनीनां।
स्थूलो पस्थस्थलीषु स्थगित करतल स्पर्शलीलोद्यतानाम्॥२१॥

इस चंचलवत असार संसार में पण्डितों के लिये केवल दो ही गति सुलभ हैं। या तो तत्व-ज्ञान रूपी अमृत रस का पान करें या पुष्ट कुचों वाली तथा सघन भोग से शिथिल हुई सुन्दर कामिनी के शरीर-पर हाथ रक्खे जीवन व्यतीत करें।

विश्रम्य विश्रम्य वनद्रुमाणाम्।
छायासु तन्वी विचचार काचित ॥
स्तनोत्तरीयेण फरोधृतेन।
निवारयन्ती शशिनो मयूखान्॥ २२ ॥

बन की छाया में विश्राम लेती हुई और अपने अंचल से चंद्रमा की प्रभा छिपाती हुई कोई स्त्री अपने यार से मिलने जाती है यहाँ पर कृष्णाभिसारिका समझना चाहिये।

अदर्शने दर्शन मात्र कामा दृष्टा परिष्वंगर सैकलोलाः।
आलिंगितायां पुनरायताक्ष्या माशास्महे विग्रहयोर भेदम्॥२३॥

जब तक हम स्त्रियों को नहीं देखते तब तक तो देखने की इच्छा रहती है, जब देखते हैं तो उसके आलिंगन-रस-सुख की इच्छा होती है। और लिपटने पर यह इच्छा होती है कि प्राणप्यारी मेरे शरीर से विलग ही न हो।

मालती शिरसि जृम्भणोन्मुखी, चंदनं वपुषि कुंकुमान्वितम् ।
वक्षसि प्रियतमा मनोहरा, स्वर्ग एष परिशिष्ट आगतः ॥२४॥

गले में शीघ्र खिलनेवाली मालती की कलियों की बनी हुई सुन्दर माला हो, शरीर में सुगंधित केसरयुत चंदन लगाये हों और सुन्दरी कामिनी को छाती से लिपटाये हों तो समझना चाहिये कि स्वर्ग का शेष सुख भी यहीं है ।

आङ्मामेति मनागमानितगुणां जाताभिलाषं ततः ।
सव्रीडं तदनु श्लथो द्यतमनुप्रत्यस्तधैर्यं पुनः ॥
प्रेमार्द्रस्पृहणाया निर्भर रहः क्रीडाप्रगल्भो ततो ।
निःशंकांगविकर्षणादिकसुखं रम्यं कुलस्त्रीरतम् ॥ २५ ॥

निश्चय करके कुल-स्त्री की ही रति उत्तम होती है, क्योंकि पहिले नाहीं-नाहीं करना, फिर इच्छा करना, लज्जा से शरीर ढीला कर देना, धैर्य छोड़ना, प्रेम-रस में भीगना, सराहनीय एकान्त क्रीड़ा का चातुर्य्य-विस्तार करना, फिर निडर होकर अंग खींचना आदि से वे अधिक सुखदायक होती हैं ।

उरसि निपतितानां स्रस्तधम्मिल्लकानां ।
मुकुलितनयनानां किंचिदुन्मीलितानाम् ॥
सुरतिजनित स्वेद स्वार्द्र गण्डस्थलीना ।
मधुर मधु वधूनांभाग्यवन्तः पिबन्ति ॥ २६ ॥

छाती पर लेटी हुई, मैथुन-श्रम से शिथिल स्त्रियों के होठों के जिनके सुगंधित केश बिखरे हुये हों, आधे नेत्र मूंदे हुए हों तथा कुछ-कुछ हिल भी रहे हों और सुरति के श्रम से स्वेद-बिन्दु उसके मुंह पर मोती की तरह चमक रहे हों, मधुर मधु को भाग्यवान ही पुरुष आनन्द से पान करते हैं ।

आमीलित नयनानां य सुरति रसोऽनुसंविदं कुरुते ।
मैथुनैर्मिथोवधारित मवितथमिदमेव काम निर्वहणं ॥२७॥

आलस्य भरी नेत्र वाली स्त्रियों को काम से तृप्ति करना यही स्त्री और पुरुषों का परस्पर काम-पूजन है।

इदमनुचितमक्रमश्च पुंसां,
यदिह जरास्वपि मान्मथा विकाराः ।
तदपि च न कृतं नितम्बिनीनाम्,
स्तनपतनावधि जीवितं रतं वा ॥ २८ ॥

ब्रह्मा ने यह ठीक नहीं किया कि वृद्धावस्था में भी काम-वासना बनी रहे, ऐसे ही स्त्रियों को भी नहीं किया कि जब तक स्तन न गिरें तभी तक जियें और काम-चेष्टा रक्खें।

एतत्कामफलं लोके यद्वयारेक चित्तता ।
अन्यचित्तकृते कामे शवयोरिव संगमः ॥ २९ ॥

सुरति के समय स्त्री और पुरुषों का चित्त एकत्रित हो जाना ही कामदेव का मुख्य फल है, अगर उस समय दोनों का चित्त दो स्थानों पर रहा, तो संगम मृतवत हो जाता है अर्थात् आनन्द नहीं आता।

प्रणाय मधुराः प्रेमोद्गाढ़ा रसादलास्तथा ।
भणिति मधुरा मुग्ध प्रायाः प्रकाशित सम्मदाः ॥
प्रकृतिसुभगा विश्रम्भार्हाः स्मरोदयदायिनी ।
रहसि किमपि स्वैरालापा हरन्ति मृगीदृशाम् ॥३०॥

एकान्त में कामदेव के उत्पन्न करनेवाले, सुशीलता से मीठे, प्रेम रस से भरे, सुखदायक स्वर युक्त, सुनने में सुन्दर,

आनन्द दायक विश्वास युक्त और सुभाषण मिश्रित सुन्दर गाने मन को मुग्ध कर लेते हैं।

आवासः क्रियतां गांगे पापहारिणि वारिणि।
तनुमध्ये तरुण्या वा मनोहारिणि हारिणि ॥३१॥

या तो गंगा के तट पर रहना चाहिये क्योंकि उसका जल पाप हरनेवाला है, या स्त्रियों के मध्य में रहना चाहिये क्योंकि उनके स्तनों के बीच का हार मन को हरनेवाला है।

प्रिय पुरतो युवतीनां तावत्पदमातनोतु हृदि मानः।
भवति न यावच्चन्दन तरु सुरभिर्मधु सुनिर्मलः पवनः ॥३२॥

गर्व करनेवाली स्त्रियाँ तभी तक मान करती हैं कि जब तक मलयागिर चंदन की सुगंधि से भरी हुई वायु नहीं चलती, भाव यह है कि चंदन कामवर्द्धक है।

परिमलभृतो वाताः शाखा नवांकुर कोटयो।
मधुर विरतोत्कण्ठा वाचः प्रियः पिक पक्षिणाम्॥
विरल सुरतस्वेदोद्गारा वधूवदनेन्दवः।
प्रसरति मधौ रात्र्यां जातो न कस्य गुणोदयः ॥३३॥

सुगंधित वायु चलती है, वृक्षों की शाखा में नये पत्तों के अंकुर निकले हैं, कोकिलादि पक्षियों की वाणी मधुर, सुन्दर और उत्कण्ठा भरी प्यारी लगती है और स्त्रियों के मुख चन्द्र पर रति-श्रम के बिलग-बिलग प्रस्वेद बूंद की कणों से शोभित होती हैं। ऐसी वसंत ऋतु की रात्रि में किस-किस वस्तु में गुण की ज्योति नहीं प्रकाशित होती? अर्थात् होती है।

माधुरय माधुरैरपि कोकिला,
कलकलैर्मलयस्य च वायुभिः।

विरहिणः प्रणिहन्ति शिरीरिणो,
विपदि हन्त सुधापि विषायते ॥ ३४ ॥

कोकिलों का मधुर शब्द और मलयाचल पवन भी चैत्र मास में विरहियों का बध करता है। इससे जान पड़ता है कि विपत्ति काल में अमृत भी विष तुल्य हो जाता है।

आवासः किल किंचिदेव दयिता पार्श्वे विलासालसः।
कर्णे कोकिल काकली कलरवः स्मेरोलतामण्डपः॥
गोष्ठी सत्कविभिः समं कतिपयैः सेव्याः सितांशोः कराः।
केषां चित्सुखयन्ति नेत्रहृदये चैत्रे विचित्रः क्षपाः॥ ३५ ॥

कल किंचित विलास से शिथिल होकर प्यारी के साथ रहना, काम से कोकिला की मीठी कूक सुनना और चाँदनी का सुख उठाना ऐसी सामग्रियों से पूर्ण चैत्र की रात्रि किसी पुण्यवान पुरुष ही के हृदय और नेत्रों को सुख देती हुई बीतती है।

पान्थस्त्री विरहानलाहुतिकला मातन्वती मंजरी।
माकन्देषु पिकांगनाभिरधुना सोत्कण्ठमालोक्यते॥
अप्येतेनव पाटला परिमलाः प्राग्भारपाटच्चरा।
वान्तिक्लान्ति वितानतानवकृतः श्रीखण्डशैलानिलाः॥३६॥

पथिकों की स्त्रियों की विरहाग्नि को बढ़ानेवाले आम के बौरों को कोकिला बड़े प्रेम में देखती हैं। इस बसंत ऋतु में नवीन पाटल पुष्प के सुगंध को चुरानेवाले मलयानिल भी उनके बिरह को बढ़ाते हुए चल रहे हैं।

सहकार कुसुम केसर निकरभरामोद मूर्च्छित दिगन्ते।

मधुरमधु विधुर मधुपे मधौ भवेत्कस्य नोत्कण्ठा ॥ ३७ ॥

जिस बसंत ऋतु में आम के बौर की सुगंधि केसर के सदृश फैल रही हो और उसके सुरभि पान से भ्रमर मत्त हो रहे हैं। उस बसंत में किसे उत्कण्ठा नहीं होती।

अच्छाच्छचंदन रसार्द्रकरा मृगाक्ष्यो ।
धारा गृहाणि कुसुमानि च कौमुदी च ॥
मन्दो मरुत्सुमनसः शुचि हर्म्यपृष्ठम् ।
ग्रीष्मे मदं च मदनं च विवर्द्धयन्ति ॥ ३८ ॥

चंदन से चर्चित हाथ वाली मृगनैनी स्त्री, फुहारेवाले भवन, सुगंधित और मन्द पवन, चाँदनी, खिले हुए फूल, और स्वेत छत ये सब ग्रीष्म ऋतु में काम-मद-वर्द्धक हैं।

स्रजोहृद्यामोदा व्यजनपवनश्चन्द्र किरणाः ।
परागः कासारो मलयजरजः सीधुविशदम् ॥
शुचिः सौधोत्संग प्रतनु वसनं पंकजदृशो ।
निदाघेतर्णां तत्सुखमुपलभन्ते सुकृतिनः ॥ ३९ ॥

अच्छी सुगंधित माला, पंखे की वायु, चाँदनी, पुष्पों का पराग, तड़ाग, स्वेत चंदन, मद्य, स्वेत भवन की ऊँची छत, महीन वस्त्र और कमल नैनी सुन्दर स्त्री आदि पदार्थों से ग्रीष्म ऋतु में पुण्यवान पुरुष ही लाभ उठाते हैं।

सुधाशुभ्रं धाम स्फुरदलमरश्मिः शशधरः ।
प्रिया वक्राम्भोजं मलयजरजश्चाति सुरभि ॥
स्रजो हृद्यामोदास्तदिदमखिलं रागिणिजने ।
करोत्यन्तः क्षोभं न तु विषय संसर्गविमुखे ॥ ४० ॥

चूना पोता हुआ भवन, निर्मल चंद्रमा, प्यारी का मुख कमल, सुगंधित चंदन, सुगंधित पुष्पों की माला ये सब अनुरागी पुरुषों के हृदय में अत्यंत क्षोभ करते हैं परन्तु विषय-विमुखियों को नहीं।

तरुणी वेषा दीपित कामा, विकसित जाता पुष्प सुगंधिः।
उन्नत पीन पयोधर भारा, प्रावृट कुरुते कस्य न हर्षम् ॥ ४१ ॥

स्त्रियों के समान, कामदेव को उत्तेजित करनेवाली, जूही के पुष्प को विकसित करनेवाली, उन्नत और पीन पयोधरों से झुकी हुई वर्षा-ऋतु किसे प्रसन्न नहीं करती?

वियदुपचित मेघं भूमयः कंदलिन्यो,
नव कुटज कदम्बामोदिनो गंधवाहाः।
शिखि कुल कलकेकारावरम्या वनान्ताः,
सुखिनम सुखिनं वा सर्वमुत्कंठयन्ति ॥ ४२ ॥

मेघ से व्याप्त आकाश, धरातल, नवीन कुटज और कदम्बों के पुष्पों के समूह के सुगंधित वायु और मयूरों के मधुर भाषण से युक्त रमणीय बन प्रान्त, ये सभी सुखी और दुखी मनुष्यों को उत्कंठित करते हैं।

उपरि घनं घन पटलं तिर्यग्गिरयोपि नर्तितमयूराः।
वसुधा कन्दल धवला दृष्टिं पथिकः क्वपातुसंत्रस्तः ॥ ४३ ॥

ऊपर घनघोर बादल छा रहे हैं, दाहिने बायें पहाड़ों पर मोर नाच रहे हैं, नीचे की भूमि दूब तथा ओस-कणों से धवली हो रही है। ऐसे समय में जबकि चारों ओर विरह का उद्दीपन करनेवाला दृश्य है तो बेचारा पथिक क्या करे?

इतो विद्युद्वल्लीविलसितमितः केतकितरोः ।
स्फुरद्गन्धः प्रोद्यज्जलदनिनदस्फुर्जितमितः ॥
इतः केकि क्रीड़ा कल कल रवः पक्ष्मल दृशाम् ।
कथं यास्यन्त्येते विरह दिवसाः सम्भृतरसाः ॥ ४४ ॥

एक ओर बिजली की प्रभा, एक ओर केतकी की सुगंधि एक ओर मेघ का गरजना और एक ओर मोरों की क्रीड़ा है, तो भला ऐसे समय में बिरहिणी स्त्रियों के दिन कैसे बीतेंगे ?

असूची संसारे तमसि नभसि प्रौढजलद ।
ध्वनि प्राप्ते तस्मिन् पतित दृषदो नीरनिचये ॥
इदं सौदामिन्याः कनककमनीयं विलसितं ।
मुदं च म्लानि च प्रथयति पथिष्वेत्र सुदृशाम् ॥ ४५ ॥

आसाढ़ सावन के सुई के प्रवेश करने की असमर्थता रूपी अंधकार में जब मेघ गरजते हैं, पत्थर सहित जलवृष्टि होती है और बिजलियाँ चमकती हैं, तो ऐसा समय बिरहिणी स्त्रियों को उनके पथिक प्राणपति के प्रति दुःख उत्पन्न करता है ।

आसारेण न हर्म्यतः प्रियतमैर्यातुं बहिः शक्यते ।
शीतोत्कम्पनिमित्तमयातदृशा गाढं समालिंगयते ॥
जातः शीतल शीकराश्च मरुतोवान्त्यंत खेदच्छिदो ।
धन्यानावत दुर्दिनं सुदिनता याति प्रियामंगमे ॥ ४६ ॥

वर्षा के दिनों में स्त्रियाँ, बड़ा जाड़ा लगता है और शरीर काँपता है यह कहकर पति से आलिंगन किये रहती

हैं। ऐसे ही पुरुष लोग भी घर में ही स्त्रियों के पास रहते हैं। ठीक है ऐसे समय में पति-पत्नियों के लिये दुर्दिन भी सुदिन हो जाते हैं।

अर्द्धनीत्वानिशायाः सरभस सुरतायामखिन्नश्लथाङ्गः।
प्रोद्भताव तृष्णोमधुमदनिरतोहार्म्यपृष्ठे विविक्ते।
सम्भोगक्लान्त कान्तशिथिल भुजलता तर्जित कर्करीतो।
ज्योत्स्नाभिन्नाच्छधारंपिबति न सलिलं शारदं मंद भाग्यः॥४७॥

आधी रात को मैथुन के श्रम से जिसके अंग थकित हैं, मद्य में मत्त हैं, प्यासे छत पर एकान्त में बैठे हैं, उसी समय में स्त्री सिथिल भुजाओं से जल लाकर देती है, शरद् ऋतु का ऐसा जल मंद भागी नहीं पाते।

हेमन्ते दधिदुग्ध सर्पिरशना मांजिष्ठवासो भृतः।
काश्मीरद्रवसांद्रदिग्ध वपुषःखिन्नः विचित्रै रतैः॥
पीनोरःस्थल कामिनी जनकृताश्लेषा गृहाभ्यन्तरम्।
ऊरूना कम्पयन्तः पृथुजघन तटात्स्रंसयंताशुकानि॥४८॥

दही, दूध, घी, और सुगन्ध सिखरन खाये, केशर कस्तूरी सर्वांग लगाये, रति भेद में निपुण पुष्ट कुचों तथा सघन जंघे वाली स्त्रियों के साथ पान सुपारी खाकर मजीठ के वस्त्रों को पहिने भाग्यवान पुरुष ही हेमंत ऋतु में सोते हैं।

केशानाकलयन्दृशो मुकुलयन्वासो बलादाक्षिपन्।
आतन्वन्पुलकोद्गमं प्रकटयन्नालिंग्य कम्पं शनैः॥
वारं वांमुदासीत्कृत कृतो दन्तच्छदान्पीडयन्।
प्रायःशैशिर एष संप्रति मरुतकान्ता सुकान्तापते॥ ४९ ॥

बालों को बिखेरता, आँखों को कुछ मूंदता, साड़ी बलात्कार उठाता, देह में रोमांचित करता, चलने में उद्वेग और कम्पन करता, बार-बार सी-सी करने में ओठों को पीड़ित करता, इस प्रकार शिशिर ऋतु का वायु पति का सा स्त्रियों के प्रति आचरण करता है।

अमाशाः संत्वेते विरतिविरसायाम विषया,
जुगुप्संता यद्वा ननु सकल दोषास्पदमिति।
तथाप्यंतेस्तत्वे प्रणिहितधियामप्यतिवल-
स्तदीयोनाख्येयः स्फुरतिहृदये कोऽपि महिमा ॥ ५० ॥

चाहे यह भोग विलास असार और वैराग्य में विरसता उत्पन्न करनेवाला हो और लोग चाहे इसे समस्त दोषों का ग्रह मान कर इसकी निन्दा करें परन्तु फिर भी इन विषय भोग की बड़ी महिमा है जो कहने में नहीं आ सकता। अर्थात् यह ब्रह्मवादियों के भी हृदय में प्रकाशित होती है।

भवन्तो वेदान्त प्रणिहित धियामाप्त गुरवो,
विदग्धालापाना वयमपि कवीनामनुचराः।
तथाप्येतद्भूमो न हि परहितात पुण्यमधिकम्,
न चास्मिन् संसारे कुवलयदृशो रम्यम परम ॥ ५१ ॥

तुम वेदान्त के शिक्षक और मैं विचित्र कामशास्त्र विनोदी कवियों का दास हूँ परन्तु यह मैं सत्य कहता हूँ कि परोपकार से बढ़ कर कोई पुण्य नहीं और कमल-नैनी स्त्रियों के सिवा कोई दूसरी वस्तु नहीं।

। किमिह वहुभिरुक्तैर्युक्ति शून्यैः प्रलापै-
र्द्वयमिह पुरुषाणां सर्वदा सेवनीयम्।

अभिनव मदलीलालालसं सुन्दरीणां ।
स्तनभरपरि खिन्नं यौवनं वा वनं वा ॥५२॥

अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है, पुरुषों को केवल दो ही वस्तु सर्वदा सेवनीय हैं। नवीन मदांध लीला भिलाषिणी और स्तन भार से खिन्न ऐसी सुन्दरी के यौवन या वन।

सत्यं जना वच्मि न पक्षपाता-
लोकेषु सर्वेषु च तथ्यमेतत् ।
नान्यन्मनोहारि नितम्बिनीभ्या-
दुःखैकहेतुर्न च कश्चिदन्यः ॥५३॥

मित्रो, यह सत्य है इसमें कुछ पक्षपात नहीं है कि संसार में स्त्रियों से बढ़कर मन को हरनेवाली और सुखदायी कोई दूसरी वस्तु नहीं है।

तावदेव कृतिनामपि स्फुरत्येष निर्मल विवेक दीपकः ।
यावदेवनकुरंगचक्षुषांताड्यते चपललोचनांचलः ॥ ५४ ॥

ज्ञानियों के भी ज्ञान का दीपक तभी तक प्रकाशित रहता है जब तक कि मृगनैनी स्त्रियों के चंचल नेत्र रूपी अंचल की हवा नहीं लगती।

वचसि भवति संगत्यागमुद्दिश्य वार्ता,
श्रुतिमुखर मुखानां केवलं पण्डितानाम् ।
जघन मरुणारत्न ग्रन्थि कांचीकलापम्,
कुवलयनयनानां को विहातुं समर्थः॥ ५५॥

शास्त्री लोग स्त्रियों के त्याग की जो शिक्षा देते हैं वह

केवल कहने ही के लिये, नहीं तो लाल रत्न से जड़ी हुई करधनी वाली कमलनैनी स्त्रियों को भला कौन छोड़ सकता है ?

स्वपरप्रतारकोऽसौ निन्दतियोऽलीकपण्डितो युवतीः ।
यस्मात्तपसोऽपि फलं स्वर्गस्तस्यापि फलं तथाप्सरसः ॥५६॥

जो स्त्रियों की निन्दा करता है वह झूठा पंडित है । आप तो ठगा हुआ है ही वह दूसरों को भी ठगना चाहता है, क्योंकि तपस्या करने पर स्वर्ग मिलता है और वहाँ अप्सरा भोग होता है । इसके अति विरुद्ध यहाँ बिना तपस्या किये ही अगर अप्सरा का भोग प्राप्त हो जाय, तो फिर तपस्या करने और स्वर्ग में जाने की आवश्यकता ही क्या रह जायगी ।

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः,
केचित्प्रचण्ड मृगराजवधेऽपि दक्षाः ।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य,
कन्दर्प दर्प दलने विरला मनुष्याः ॥५७॥

मत्त गजराज के मस्तक फाड़नेवाले संसार में अनेक हैं, प्रचण्ड शेर को मारनेवाले वीर भी हैं, परन्तु कामदेव के गर्व को खंडित करनेवाला कदाचित ही कोई होगा ।

सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति स नरस्ताव देवेन्द्रियाणां,
लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव ।
भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथगता नीलपक्ष्माण एते,
यावल्लीलावतीनां न हृदि धृति मुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति ॥५८॥

मनुष्य उसी समय तक सत्मार्ग में रहता है, इन्द्रियों को वश में रखता है, लज्जा विनय भी उसी समय तक रहती है जब तक कि उसे लीलावती स्त्रियों के नेत्र-बाण नहीं लगते ।

उन्मत्त प्रेम संरम्भादारभन्ते यदंगना,

तत्र प्रत्यूहमाधातुं ब्रह्मापि खलु कातरः ॥ ५९ ॥

अति प्रेम में उन्मत्त होकर स्त्रियाँ जिस काम में जुट जाती हैं उस काम से ब्रह्मा भी नहीं छुड़ा सकते ।

तावन्महत्वं पाण्डित्यं कुलीनत्वं विवेकता,

यावज्ज्वलति नांगेषुहतः पंचेषुपावकः ॥ ६० ॥

मनुष्य की देह में बड़ाई, पंडिताई, कुलीनता और विवेकता तभी तक रहती है जब तक उसके हृदय में कामाग्नि नहीं प्रज्वलित होती ।

शास्त्रज्ञोऽपि प्रथितविनयोऽप्यात्मबोधोऽपिबाढम ।

संसारेऽस्मिन् भवति विरलो भाजनं सद्गतीनाम् ॥

येनैतस्मिन्निरयनगर द्वार मुद्घाटयन्ती ।

वामाक्षीणां भवति कुटिल भ्रूलता कुंचिकेव ॥६१॥

शास्त्रज्ञ, विनयी होने पर भी सद्गति का पात्र कोई विरला ही होता है, क्योंकि स्त्रियाँ अपनी भौंह रूपी कुंजी से नर्क नगर के द्वार का ताला खोल देती हैं ।

स्त्रीमुद्रां झषकेतुनस्य जननीं सर्वार्थसम्पत्करीम,

ये मूढाःप्रविहाय यान्ति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिणः ।

ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं नग्नीकृता मुंडिताः,

चित्पंचशिखी कृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे ॥६२॥

स्त्रियाँ कामदेव की मुद्रा और सर्वार्थ सम्पत्तियों को देने वाली हैं। इनसे छुटकारा पाकर स्वर्गादि की इच्छा से निकल भागनेवाले को विरक्त नहीं समझना चाहिये । बल्कि यह समझना

चाहिये कि कामदेव ने दण्ड देकर उन्हें नंगा किया, फिर मुड़वाया या बाल बढ़वाया और हाथ में ठीकरा देकर उनसे भीक मँगवाया है।

संसार तव निस्तार पदवी न दवीयसी ।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि मदिरेक्षणाः ॥ ६३ ॥

तुझको इस संसार से पार होना कुछ कठिन नहीं है जो अच्छे नेत्र वाली कठिन स्त्रियाँ बीच में बाधक हों।

विश्वामित्र पराशर प्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना ।
स्तेऽपि स्त्री मुख पंकजं सुललितं दृष्टैव मोहंगताः ॥
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुंजन्ति ये मानवा ।
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदिभवेद्विन्ध्यस्तरेत्सागरं ॥६४॥

विश्वामित्र पराशर आदि महर्षि जो पत्ते, जल और वायु खाकर रहते थे, वे भी स्त्रियों के कमल मुख को देखकर मोह को प्राप्त हुए फिर अन्न, घी, दूध और दही आदि व्यंजनों को खानेवाले मनुष्य यदि इन्द्रियों के वश में हो जायँ तो विंध्याचल के समुद्र में तैरने के समान इसमें आश्चर्य ही क्या है!

संसारेऽस्मिन्नसारे कुनृपति भुवन द्वार सेवावलम्ब ।
व्यासंग व्यस्तधैर्यं कथममलधियो मानसं सन्निदध्युः ।
यद्येताः प्रोद्यदिन्दुद्युतिनिश्चयभृतानस्युरम्भोजनेत्रा ।
प्रेङ्खत्कांची कलापा स्तनभरविन मन्मध्य भागास्तरुण्यः ६५

उदित चन्द्र के समान कान्तिवाली, कमल समान नेत्र वाली, झूलती हुई करधनी वाली, स्तन भार से झुकी हुई कटि वाली स्त्री यदि न तो फिर पुरुष इस असार संसार में अपनी

निर्मल बुद्धि के रहते हुए भी राजाओं के यहाँ अपमानित नौकरी क्यों करते ?

सिद्धाध्यासित कन्दरे हरवृषस्कन्धावगाढद्रुमे ।
गंगाधौत शिला तले हिमवतः स्थाने स्थिते श्रेयसि ॥
कः कुर्वीत शिरः प्रणाममलिनं मानं मनस्वी जनो ।
यद्यत्रस्त कुरंगशावनयना नस्युः स्मरास्त्रं स्त्रियः ॥६६॥

यदि घर में मृगनैनी और कामास्त्र रूपी कामिनी न होती तो भला कौन इस हिमालय को छोड़, नगर के स्त्री पुरुषों को प्रणाम कर अपने मान को भंग करता ? जहाँ की कन्दरा में बैठकर सिद्ध लोग तपस्या करते और जहाँ के वन वृक्षों से महादेव का बैल अपना कंधा रगड़ता है तथा जहाँ गंगा-जल से पत्थर धोये जाते हैं ।

राजंस्तृष्णाम्बुराशेर्नहि जगति गतः कश्चिदेवावसानं ।
कावार्थोऽर्थैः प्रभूतैः स्ववपुषिगलिते यौवने सानुरागे ॥
गच्छामः सद्मतावद्विकसित नयनेन्दीवरा लोकनानाम् ।
यावच्चाक्रम्य रूपं झटिति न जरयालुप्यते प्रेयसीनाम् ॥६७॥

हे राजन् ! तृष्णा रूपी सागर से कोई पार तो होता ही नहीं, फिर जब हम बृद्ध ही हो रहे हैं तो हमें द्रव्य की आवश्यकता ही क्या है ? इसलिये उचित तो यह है कि हम शीघ्र ही अपने घर चले जायँ कहीं ऐसा न हो जाय कि विकसित कमल के समान हमारी स्त्रियों का रूप वृद्धावस्था न बिगाड़ डाले ।

रागस्यागारमेकं नरकशतमहादुःख संप्राप्ति हेतुर्मोहस्यो-
त्पत्तिबीजं जलधर पटलं जानताराधि पस्य ।

कन्दर्पस्यैका मित्रं प्रकटित विविध स्पष्ट दोष प्रबन्धम्,
लोकेऽस्मिन्नह्यनर्थं निजकुल दहनं यौवनादन्य दस्ति ॥६८॥

अनुराग का घर, सैकड़ों नरक प्राप्त करने का द्वार, मोह का बीज, ज्ञानरूपी चन्द्र को छिपाने के लिये मेघ, कामदेव का मित्र, दोषों को प्रगट करनेवाला, वैराग्य और नीति को पछारनेवाला, यदि संसार में कोई है, तो वह युवावस्था ही है। इसके अतिरिक्त और किसी की सामर्थ्य नहीं है जो ऐसा कर सके।

शृंगार द्रुमनीरद प्रचुरतः क्रीडारसस्रोतसि।
प्रद्युम्नप्रियबांधवे चतुरता मुक्ता फलोदन्वति॥
तन्वीनेत्र चकोर पारणाविधौ सौभाग्य लक्ष्मी निधौ।
धन्यः कोऽपिन विक्रियां कलयति प्राप्ते नवे यौवने ॥६९॥

शृङ्गार बिटपों को सींचने वाला मेघ, क्रीड़ा रस का सोता कामदेव का प्यारा भाई, चातुर्य्य रूपी मोतियों का समुद्र, स्त्रियों के नेत्र-चकोर का पूर्ण चन्द्र और सौभाग्य लक्ष्मी का एक पात्र ऐसी युवावस्था को प्राप्त करके जो विकार को नहीं प्राप्त होता वही धन्य है।

कान्तेत्युत्पल लोचनेति विपुल श्रोणी भरेत्युत्सुकः।
पीनोत्तुंगपयोधरेति सुखमुम्भोजेति सुभ्रूरिति॥
दृष्ट्वा माद्यति मोदतेऽतिरमते प्रस्तौति जानन्नपि।
प्रत्यक्षा शुचि पुत्तिकां स्त्रियमोहयस्मह दुश्चेष्टितं ॥ ७० ॥

प्रत्यक्ष में जो अपवित्रता की पुतली हैं ऐसी स्त्रियों को भी पंडित लोग मोह के वश में हो, कान्ते, कमलनैनी, उन्नतनितम्बा

पुष्ट और उत्तुंग स्तनवाली, कमलमुखी और सुन्दर भौंह वाली कहकर प्रशंसा करते हैं, मोहित होते हैं, आनन्द पाते हैं, स्मरण करते हैं और उत्कंठित होते हैं। देखो तो मोह की कैसी खोटी चेष्टा है ?

स्मृता भवति तापाय दृष्टा चोन्माद वर्द्धिनी।
स्पृष्टा भवति मोहाय सानाम दयिता कथम् ॥ ७१ ॥

मुझे आश्चर्य है कि जो स्मरण से संताप देती हैं देखने पर मत्त कर देती हैं और स्पर्श से मोहित कर लेती हैं, ऐसी स्त्रियों को लोग प्रिया क्यों कहते हैं।

तावदेवामृतमयी यावल्लोचनगोचरा।
चक्षुःपथादगता विषादप्यतिरिच्यते ॥ ७२ ॥

जब तक स्त्रियाँ नेत्र के सम्मुख हों तभी तक वह अमृतमयी हैं, नेत्र से दूर होते ही वह विषवत् होकर विरह-संताप देती हैं।

नामृतं न विषं किंचिदेकां मुक्त्वा नितम्बिनीम्।
सैवामृतलता रक्ता विरक्ता विषवल्लरी ॥ ७३ ॥

स्त्रियों से बढ़कर अमृत विष कुछ नहीं है। यदि स्नेह करें तो अमृत की लता हैं और प्रीति को तोड़ दें तो विष की मंजरी हैं।

लीलावतीना सहजा विलासा,
स्तेयव मूढस्य हृदि स्फुरन्ति।
रागो नलिन्या हि निसर्ग सिद्ध-
स्तत्र भ्रमत्येव मुदा षडंघ्रिः ॥७४॥

स्त्रियों का लीला करना तो स्वभाविक है, जिसपर मूढ़ लोग वशीभूत हो जाते हैं, जैसा कमिलिनी तो जन्म से ललाई लिए रहती है पर भ्रमर यह समझकर मुग्ध हो जाते हैं कि यह मेरे ही लिए ललाई चमका रही है।

जल्पन्ति सार्द्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः ।
हृदये चिन्तयन्त्यन्यं प्रियः को नाम योषिताम् ॥ ७५ ॥

बातें तो किसी दूसरे से करती हैं, विलास युक्त, किसी दूसरे को ही देखती हैं और हृदय में किसी दूसरे से ही मिलने की इच्छा रखती हैं। ऐसी दशा में यह नहीं जान पड़ता कि इनमें से स्त्रियों को सबसे अधिक प्यारा कौन है?

आवर्तः संशयानामविनयभवनं पत्तनं साहसानाम् ।
दोषाणां सन्निधानं कपट शतमयं क्षेत्रम प्रत्ययानाम् ॥
स्वर्गद्वारस्य विघ्नो नरकपुरमुखं सर्वमायाकरण्डम् ।
स्त्री यंत्रं केनसृष्टंविषममृतमयं प्राणिना मोहपाशः ॥ ७६ ॥

संशयों का भँवर, अविनय का घर साहस का नगर, दोषों का पात्र, सैकड़ों कपट का खेत, स्वर्ग द्वार का विघ्नकारक नर्क नगर का द्वार, मायाओं का पेटारा, अमृत लिपटा विष और मनुष्यों को फँसाने वाला चक्र रूपी स्त्रियों को न मालूम किस ब्रह्मा ने बनाया है?

सत्यत्वेन शशांक एष वदनीभूतो नवेन्दीवरः,
द्वन्द्वं लोचनतां गतं न कनकैरप्यंगयष्टिः कृता ।
किन्त्वेवं कविभिः प्रतारितमनास्तत्त्वं विजानन्नपि,
त्वयासास्थिमयं वपुर्मृगदृशां मन्दोजनः सेवते ॥ ७७ ॥

क्या चन्द्रमा ही मुख तो नहीं बन गया, कमल नेत्र थोड़े ही हो जाते हैं, स्वर्ण से बदन थोड़े ही बना है, अरे यह तो स्त्रियों का शरीर चाम, मांस और हाड़ से बना है। यह जानते हुए भी कवियों के बहकाने से मूर्ख लोग उसका सेवन करते हैं

यदेतत्पूर्णो दुद्युति हरदुदारा कृतिवरम्।
मुखाब्जं तन्वंग्याः किल वसति तत्राधर मधु॥
इदं तावत्पाकद्रुमफलमिवातीव विरसम्।
व्यतीतेऽस्मिन्काले विषमिव भविष्यत्यसुखदं॥ ७८॥

पूर्णचन्द्र की छवि हरनहार सुन्दर स्त्री के मुखकमल का अधरामृत युवावस्था ही में अच्छा लगता है। वृद्धावस्था में तो मदार के फल तथा विष के समान कड़ुवा मालूम होता है।

मधुतिष्ठिति वाचि योषितां हृदि हलाहलमेव केवलं।
अतएव निपीयतेऽधरा हृदयं मुष्ठिभिरेव ताड्यत॥७९॥

स्त्रियों के अधरों में अमृत और कुचों में विष रहता है तभी तो लोग अधर पान करते और कुचों पर मुष्टिका प्रहार करते हैं।

उन्मालत्त्रिवलीतरंगनिलया प्रोत्तुंग पीनस्तन।
द्वन्द्वनाद्यतचक्रवाकमिथुना वक्राम्बुजोद्भासिनी॥
कान्ताकारधरा मदीयमभितः क्रूराशया नेष्यते।
संसारार्णव मज्जनं यदि ततो दूरेण संत्यज्यताम्॥८०॥

पेट की त्रिवली तरंग है, दोनों उत्तंग और पुष्ट स्तन, चक्रवाक हैं, मुख कमल ही जिसका गंभीराशय है ऐसी नदी रूपी

स्त्री को धारण करनेवाले पुरुषो ! यदि तुम संसार-समुद्र में नहीं डूबना चाहते तो शीघ्र ही इसका परित्याग करो।

अपसर सखे दूरादस्मात्कटाक्षशिखानलात् ।
प्रकृति विषमाद्योषित्सर्पाद्विलासफणाभृतः ॥
इतरफणिना दष्टाः शक्याश्चिकित्सितुमौषधै ।
श्चतुर्वनिताभोगिग्रस्तं त्यजन्तिहिमन्त्रिणः ॥ ८१ ॥

हे मित्र ! क्रूर और विलास रूपी विषाग्नि वाली स्त्रियों से सदा दूर रहो क्योंकि अन्य सर्पों का डसा हुआ मनुष्य औषधियों से भी अच्छा हो सकता है परन्तु चतुर स्त्री रूपी सर्प के डसे हुए मनुष्य को मंत्र-तंत्र वाले भी छोड़कर भाग जाते हैं।

विस्तारितं मकरकेतुनधीवरेण,
स्त्रीसंज्ञितं बडिशमत्र भवाम्बुराशौ ।
येनाचिरात्तदधरामिष लोलमर्त्य,
मत्स्यान् विकृष्यपचतात्यनुरागवह्नौ ॥ ८२ ॥

संसार रूपी समुद्र में कामदेव रूपी केवट ने मनुष्य रूपी मछली को फँसाने के लिये अनुराग रूपी अग्नि में पकाकर स्त्री रूपी बंशी को बनाया है।

कामिनीकायकान्तारे कुचपर्वत दुर्गमे ।
मासंचर मनः पान्थ तत्रास्ते स्मरतस्करः ॥ ८३ ॥

स्त्रियों का शरीर रूपी बन कुच रूपी पर्वतों से अति दुर्गम हो गया है, इसलिये हे पथिक ! तू वहाँ न जा, क्योंकि वहाँ कामदेव रूपी चोर रहता है।

व्यादीर्घेण चलेन वक्रगतिना तेजस्विना भोगिना ।

नीलाब्जद्युतिनाहिना वरमहं दष्टो न तच्चक्षुषा ॥
दष्टेसन्तिचिकित्सकादिशिदिशिप्रायेणधर्मार्थिनो ।
मुग्धाक्षीक्षणवीक्षितस्यनहिमेवैद्योनचाप्यौषधं ॥ ८४ ॥

लम्बा, नील कमल सा काला, चंचल, टेढ़ी चाल वाला, तेजवान, फनधारी साँप अगर काट ले तो अच्छा, परन्तु स्त्री के कटाक्ष का काटा जाना ठीक नहीं है। क्योंकि साँप के विष से बचानेवाले सभी देशों में बसते हैं और धार्मिक भी होते हैं, परन्तु अच्छे नेत्रवाली स्त्री के दृष्टि से काटे हुए की कोई दवा नहीं है।

इहहि मधुरगीतं नृत्यमेतद्रसोऽयम् ।
स्फुरति परिमलोऽसौ स्पर्श एष स्तनानाम् ॥
इति हतपरमार्थैरिन्द्रियैर्भ्राम्यमाणो ।
ह्यहित करणदक्षैः पंचभिर्वंचिताऽस्मि ॥ ८५ ॥

मधुर गीत सुनकर, अच्छा रूप देखकर, स्वादिष्ट अधरामृत चखकर, शरीर की सुगंधि से और शरीर तथा स्तनों के स्पर्श से अर्थात् इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा मनुष्य इन पाँचों वस्तुओं पर मुग्ध हो धूर्तों की तरह अपना कार्य साधन करते हैं।

न गम्यो मंत्राणां न च भवति भैषज्यविषयो ।
न चापि प्रध्वंसं व्रजति विविधैः शान्तिकशतैः ॥
भ्रमावेशादंगे किमपि विदधद्भव्यमसमम् ।
स्मरोऽपस्मारोऽयं भ्रमयति दृशं घूर्णयति च ॥ ८६ ॥

यह कामदेव रूपी अपस्मार रोग, भ्रम के आवेश में दुख

देता हुआ शरीर तोड़ता, मन को भ्रमाता और नेत्रों को घुमाता है। इस रोग में मंत्रों की गति नहीं, औषधि भी कोई काम नहीं करती और न यह रोग पूजा-पाठ से ही शान्त होता है।

> वेश्यासौ मदनज्वाला रूपेन्धन समेधिता।
> कामीभिर्यत्र हन्यन्ते यौवनानि धनानि च ॥ ८७ ॥

कामी पुरुष अपने धन और यौवन को वेश्या की कामाग्नि के रूप रूपी प्रचंड ज्वाला में भस्म कर देते हैं। अर्थात् वेश्याओं का भोग करनेवाला अपने धन और अपनी जवानी दोनों को कामाग्नि में जला डालते हैं।

> जात्यन्धाय च दुर्मुखाय च जराजीर्णाखिलाङ्गाय च।
> ग्रामीणाय च दुष्कुलाय च गलत्कुष्ठाभिभूताय च॥
> यच्छन्तीषु मनोहरं निजवपुर्लक्ष्मीलवश्रद्धया।
> पण्यस्त्रीषु विवेक कल्पलतिकाशस्त्रीषु रज्येत कः ॥८८॥

जन्मान्ध, कुरूप, वृद्ध, गँवार, नीच, कोढ़ी को भी थोड़े द्रव्य की तथा सुख की आशा से अपना सुन्दर शरीर तथा यौवन समर्पण कर देनेवाली स्त्रियाँ विवेक रूपी कल्पलता को काटने के लिये छूरे के सदृश्य हैं। भला उनसे कौन बुद्धिमान रमण कर सकता है।

> कश्चुम्बति कुलपुरुषो वेश्याधरपल्लवं मनोज्ञमपि।
> चारभट चौर चेटक नटविट निष्ठीवन शरावम् ॥८९॥

वेश्या का अधर पल्लव यदि सुन्दर है, तो भी कौन कुलीन पुरुष उसे चुम्बन करेगा? क्योंकि वह तो ठग, ठाकुर, चोर, नीच, नट आदि हज़ारों के थूकने का ठीकरा है।

धन्यास्तएव तरलायत लोचनानाम्,
तारुण्यदर्पघन पीनपयोधराणाम् ।
क्षामोदरोपरि लसत्त्रिवली लतानाम्,
दृष्ट्वाकृतिं विकृतिमेति मनो न येषाम् ॥ ६० ॥

चंचल, बड़े-बड़े नेत्र वाली, यौवन के अभिमान में मत्त, पुष्ट और दृढ़ स्तन वाली, त्रिवली वाली स्त्रियों की आकृति देख जिनके मन में विकार नहीं उत्पन्न होता वे ही पुरुष धन्य हैं।

बाले लीलामुकुलितमयी सुन्दरा दृष्टिपाताः ।
किं क्षिप्यन्ते विरम विरम व्यर्थ एष श्रमस्ते ॥
सम्प्रत्यन्ये वयमुपरतं बाल्यमास्था वनान्ते ।
क्षीणो मोहस्तृणमिव जगज्जाल मालोकयामः ॥६१॥

हे बाले! लीला से विकसित सुन्दर कटाक्ष हम पर क्या फेरती है? ठहर, तुम्हारा यह प्रयत्न व्यर्थ है क्योंकि अब हम कुछ दूसरे ही गये हैं। लड़कपन गया, वन में रहते हैं, तृष्णा भी छूटी अब हम संसार को तृणवत् समझते हैं।

शुभ्रं सद्म सविभ्रमा युवतयः श्वेतातपत्रोज्ज्वला ।
लक्ष्मीरित्यनुभूयते स्थिरमिव स्फीते शुभे कर्मणि ॥
विच्छिन्ने नितरामनंगकलह क्रीड़ात्रुटत्तन्तुकम् ।
मुक्ता जालमिव प्रयाति झटिति भ्रश्यादिशो दृश्यतां ॥ ६२ ॥

उज्ज्वल घर, हावभाव युक्त स्त्री, श्वेत छत्र युक्त लक्ष्मी का भोग पुण्य की वृद्धि पर ही निर्भर है। और जब पुण्य क्षीण हो जाता है तब सुरति में कामदेव के युद्ध में टूटे हुए मोतियों की माला के समान सभी लोग लुप्त हो जाते हैं।

सदा योगाभ्यासव्यसनवश योरात्ममनसो,
रविच्छिन्नां मैत्री स्फुरति यमिनस्तस्यं किमुतैः।
प्रियाणामाला पैरधरम धुभिर्वक्त्रविधुभिः,
सनिश्वासामोदैः सकुच कलशा श्लेषसुरतैः ॥ ९३ ॥

जिनकी आतमा और मन सदा योग में अभ्यास कर रहा है और जिनकी पुण्यात्माओं से मैत्री है, उन्हें स्त्रियों के सम्भाषण, मुखकमल, कुच कलश और उन्हें छाती से लगाने में क्या आनन्द मिलेगा ?

किं कन्दर्प करं कदर्थयसि किं कोदण्डटंकारितै।
रे रे कोकिल कोमलं कलरवं किं त्वं वृथा वल्गसे॥
मुग्धे स्निग्ध विदग्ध मुग्ध मधुरैर्लोलैः कटाक्षैरलम्।
चेतश्चुम्बित चन्द्रचूड़चरणध्यानामृतं वर्तते ॥९४॥

अरे क्षुद्र कामदेव! क्यों अपने धनुष के टंकार से हमें दुख देता है? रे कोकिल! तू व्यर्थ इन मीठे स्वरों में बोलता है। और हे सुन्दरी! तू अपना चंचल कटाक्ष मुझपर न डाल क्योंकि मेरा मन तो शिवजी के चरणों के ध्यान में मग्न हो रहा है।

यदासीदज्ञानं स्मरतिमिर संचार जनितम्।
तदा सर्वं नारीमयमिदमशेषं जगदभूत॥
इदानीमस्माकं पटुतर विवेकांजनदृशाम्।
समीभूता दृष्टिस्त्रिभुवनमपि ब्रह्ममनुते ॥ ९५ ॥

जब तक मुझ में कामदेव रूपी तिमिर रोग से उत्पन्न अज्ञान था, तब तक समस्त संसार स्त्रीमय देख पड़ता था। अब

जब हमने विवेक रूपी अंजन अपनी आँखों में लगाया तो मेरी दृष्टि सम हो गयी और संसार ब्रह्ममय देख पड़ता है।

बाले लीला मुकुलितममीमंथरादृष्टिपाताः,
किं क्षिप्यंते विरमत यतो व्यर्थ एष श्रमस्ते।
संप्रत्यन्येवयमुपरतं बाल्यमीस्थावनान्ते क्षीणो,
मोहस्तृणमिव जगज्जालं मालोकयामः॥ ९६॥

हे बाले! लीला करके आँख को मारती, तथा सुन्दर दृष्टि को क्यों फेंकती है? तेरा यह प्रयत्न व्यर्थ है। क्योंकि अब हम कुछ और हो गये हैं। मोह क्षीण हो गया, जगत् को तृणवत समझने लगे और वनवास की इच्छा हुई अतएव अब तू विश्राम ले।

इयं बालामां प्रत्यनवरत मिंदीवरदल प्रभा,
चोरं चक्षुः क्षिपतिकिमभिप्रेतमनया।
गतो मोहो स्माकं स्माशवरवाणव्यतिकरज्व,
ज्वालाशांतातदपिन वराकी विरमति॥ ९७॥

हे सुन्दरी! तू हम पर कमल-प्रभा के समान चक्षु-कोणों को क्यों फेंकती है। इससे कुछ अर्थ सिद्ध न होगा। क्योंकि मेरा मोह गया, कामदेव के बाण से व्यथित तथा जलता हुआ हृदय भी शीतल हो गया। ऐसी दशा में ऐ मूर्खा! अब भी तू क्यों नहीं विश्राम करती?

चुम्बंतो गण्डभित्तीरलकवति मुखेसीत्कृतान्यादधाना,
वक्षः सूत्कंचुकेषु स्तनभर पुलकोद्भेदमापादयन्तः।
ऊरूना कम्पयंतः पृथुजघनतटात्स्रंमयंतो शुकानि,
व्यक्तं कान्ता जनानां विट चरित कृतः शौशिरावांतिवाता॥९८॥

शिशिर ऋतु का वायु अलक वाली स्त्री के सुन्दर मुख तथा कपोलों का चुम्बन लेता हुआ उसके मुह से सी-सी करा देता है, उसके कुचों के रोवें उठाकर, उसके जंघा को कँपाकर, मोटी जंघाओं के ऊपर से वस्त्र हटाकर, लम्पट पुरुषों की भाँति आचरण करता है।

कृशः काणः खंजः श्रवणरहितः पुच्छविकलो।
व्रणी पूयक्लिन्नः कृमिकुलशतैराव्रलतनुः॥
क्षुधाक्षामो जीर्णो मृतवयः कपालार्पितगलः।
शुनीमन्वेतिश्वा हतमपि निहन्त्येव मदनः॥९९॥

जब हम दुबले, काने, लूले, बहिरे, विकल फोड़ों वाले पीब वाले, कृम पड़े हुए, भूक से व्याकुल, वृद्ध, मरने योग्य, अस्थिचर्माविशेष कुत्ते को कुतियों के पीछे लगे देखते हैं, तो कहना पड़ता है कि कामदेव मरे हुए को भी नहीं छोड़ता। फिर औरों को क्या कहा जाय?

यद्यस्यनास्ति रुचिरं तस्मिंस्तस्यास्पृहा मनोज्ञेऽपि।
रमणीयेऽपि सुधांशोर्न मनः कामः सरोजिन्याः॥१००॥

जिसको जो वस्तु रुचिकर नहीं होती, उसके मनोज्ञता से भी वह कुछ लाभ नहीं उठाता। जैसे रमणीय चन्द्रमा को भी पाकर कमिलनी नहीं खिलती अर्थात् प्रसन्न नहीं होती।

तृतीय खण्ड

वैराग्यशतकम्

चूड़ोत्तंसितचारुचन्द्र कलिकाचञ्चच्छिखाभास्वरो,
लीलादग्धविलोलकाम शलभः श्रेयोदशाग्रेस्फुरन् ।
अन्तः स्फूर्जदपारमोहतिमिर प्राग्भारमुच्चाटयन्,
चेतः सद्मनि योगिनां विजयते ज्ञान प्रदीपो हरः ॥१॥

चन्द्रमा को शिर पर धारण करनेवाले, कामदेव को भस्म करनेवाले और मोहांधकार को हरकर कल्याण करनेवाले हृदय-मंदिर के दीपक रूपी श्रीशंकर भगवान, आपकी जय हो ।

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता,
साप्यन्य मिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
धिक्तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥ २ ॥

मैं जिसकी निरंतर चिन्ता करता हूँ वह मुझ से विरक्त होकर किसी दूसरे की इच्छा करती है ; और वह किसी दूसरी स्त्री पर आसक्त है और वह स्त्री हम से प्रसन्न है । इसलिये इन तीनों को धिक्कार है और मुझे भी धिक्कार है जो इस झंझट

में पड़ा हूं। कामदेव को तो और भी अधिक धिक्कार है जो सब को नचा रहा है।

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः।
अबोधापहताश्चान्ये जीर्णमंगेसुभाषितम्॥ ३॥

बुद्धिमान लोग अपने मत्सर से ही ग्रसित हैं, धनी लोग धन के घमंड से ही किसी गुणी का आदर नहीं करते और अल्पज्ञों से कहने की इच्छा नहीं होती। अतः उत्तम काव्य शरीर ही में जीर्ण हो जाता है अर्थात् प्रगट नहीं होता; क्योंकि गुण ग्राहक नहीं रहे।

न संसारोत्पन्नं चरित मनुपश्यामि कुशलम्,
विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः।
महद्भिः पुण्योघैश्चिरपरिगृहीताश्च विषया,
महान्तो जायन्ते व्यसनमिव दातुं विषयिणाम्॥ ४॥

संसार में जन्म लेने में भी कुशल नहीं है और स्वर्गादि भी भयप्रद ही हैं, क्योंकि पुण्य क्षय होने पर वहाँ से भी पतित होना पड़ता है। अर्थात् विषयाशक्त पुरुषों का दोनों, लोक-पर लोक क्लेशकारक ही हैं, क्योंकि पुण्य संचय करके जन्म लेने वाला भी तो वासनाओं में लिप्त होकर दुख भोगता है।

उत्खातं निधि शंकया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवे।
निस्तीर्णः सरितां पतिर्नृपतयो यत्नेन संतोषिताः॥
मंत्राराधनतत्परेण मनसा नीतः श्मशाने निशाः।
प्राप्तः काणवराट कोऽपि न मया तृष्णोऽधुनामुंचमां॥ ५॥

द्रव्य की आशा से मैंने ठौर-ठौर भूमि खोदी, पहाड़ की अनेक धातुओं को फूंक डाला, समुद्र को मथा, राजाओं को

प्रसन्न किया और रात्रि समय श्मशानों में मंत्र का जप किया पर परिणाम कुछ न निकला, एक कौड़ी भी न मिली और अंत काल आ गया। इससे हे तृष्णे! अब भी तो मेरा पिण्ड छोड़।

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किंचित्फलम् ।
त्यक्त्वाजाति कुलाभिमान मुचितं सेवाकृता निष्फला ॥
भुक्तं मान विवर्जितं परगृहे साशंकया काकवत् ।
तृष्णे दुर्मतिपापकर्मनिरते नाद्यापि सन्तुष्यसि ॥ ६ ॥

अनेक दुर्गम देशों में भ्रमण किया पर व्यर्थ हुआ, मान-मर्यादा छोड़ दूसरों की सेवा की वह भी निष्फल और अपमानित होते हुए पराये के घर कौए की भाँति भोजन भी करता रहा उससे भी कुछ लाभ नहीं हुआ। हे पाप-कर्म में लीन तृष्णे! इतने पर भी संतोष क्यों नहीं करती?

खलोल्लापः सोढा कथमपि तदाराधनपरैर्निगृ,
ह्यान्तर्बाष्पं हसित मपिशून्येन मनसा ।
कृतश्चित्तस्तम्भः प्रहसितधियामंजलिरपि,
त्वमाशे मोघाशे किमपरमतो नर्तयसि माम् ॥ ७ ॥

सेवा करते समय हम नित्य दुष्टों के कुवाक्यों को सहते रहे, उन्हें देख अपने आँसुओं को पोंछ कर भी हँसते हुए उन्हें प्रसन्न करते थे। उनके सामने हाथ भी जोड़े। हे तृष्णे! भला अब तू मुझे व्यर्थ क्यों नचाती है?

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितम् ।
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते ॥

दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते ।
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥ ८ ॥

सूर्य्य के उदय और अस्त होने के साथ-साथ आयु भी दिन-दिन घटती जाती है, तथा व्यापारादि से चित्त नहीं भरता और जन्म, बुढ़ापन तथा मृत्यु होते हुए देखकर भी मनुष्यों को चेत नहीं होता। इससे मालूम होता है कि संसार प्रमाद रूपी मदिरा पीकर मत्त हो रहा है।

दीना दीनमुखैः सदैव शिशुकैराकृष्टजीर्णाम्बरा ।
क्रोशद्भिः क्षुधितैर्नरैर्न विधुरा दृश्येत चेद्गेहिनी ॥
याच्ञाभङ्गभयेन गद्गदगलत्त्रुट्यद्विलीनाक्षरम् ।
कोदेहीति वदेत्स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वी जनः ॥ ९ ॥

अपने को दुखी, बच्चों को भूक से तड़पते और अधीर स्त्री को देखकर संसार में कौन ऐसा धीर पुरुष है जो याचना भंग होने के डर से माँगने को किसी के सामने हाथ न फैलावे।

निवृत्ताभोगेच्छा पुरुषबहुमानो विगलितः ।
समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः ॥
शनैर्यष्ट्युत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने ।
अहो धृष्टः कायस्तदपि मरणापायचकितः ॥ १० ॥

विषय-भोग की इच्छा कम हुई, लोगों में मर्य्यादा भी घट गई, मित्रगण भी मर गये, अपने भी लकड़ी टेककर उठते हैं, आँखों के आगे अँधेरा छाया रहता है, तो भी यह काया ऐसी निर्लज्ज है जो मृत्यु का नाम सुनकर काँप जाती है।

हिंसाशून्यमयत्नलभ्यमशनं धात्रा मरुत्कल्पितं,
व्यालानां पशवस्तृणांकुर भुज स्सृष्टाः स्थलीशायिनः।
संसारार्णवलंघनक्षमधियां वृत्तिः कृता सा नृणां,
यामन्वेषयतां प्रयान्ति सततं सर्वे समाप्तिंगुणाः ॥११॥

ब्रह्मा, बिना हिंसा या उद्योग किये सर्पों को खाने के लिये वायु देते हैं, पशुओं को तृण बनाये हैं, और जिनकी बुद्धि समुद्र लाँघने को भी समर्थ है उसकी वृत्ति उन्होंने ऐसी बनाई है कि सभी गुण उसमें समाप्त हो जायँ पर सिद्ध न हो।

न ध्यातं पदमीश्वरस्य विधिवत संसारविच्छित्तये।
स्वर्गद्वार कपाटशाटनपटुधर्मोऽपिनापार्जितः ॥
नारीपीन पयोधरोरुयुगुलं स्वप्नेऽपि नालिंगितम्।
मातुः केवल मेवयौवन वनच्छेद कुठारावयम् ॥१२॥

संसार से पार होने के लिये परमात्मा के पाद पंकजों का यथावत ध्यान नहीं किया। स्वर्ग जाने के लिये कोई धर्म नहीं किया। स्त्री के पुष्ट पयोधर भी स्वप्न में भी छाती से नहीं लगाया, तो समझना चाहिये कि केवल माता के यौवन रूपी वन को काटने के लिये कुल्हाड़ी के समान ही उत्पन्न हुए हैं।

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेवयाता, स्तृष्णा न जीर्णा वरमेव जीर्णा१३॥

हमने विषयों को तो भोगा नहीं उल्टे विषय ही ने हमें भोग लिया, हम तप न तपे पर तप ने हमें तपा दिया और समय नहीं बीता परंतु हमारी आयु अलबत्ता व्यतीत हो गई। परन्तु इतने पर भी तृष्णा बुड्ढी नहीं हुई, बल्कि हमीं वृद्ध हो गये।

क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न संतोषतः ।
सोढा दुस्सहशीत वात तपना क्लेशन्नशाततपः ॥
ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितप्राणैर्न शम्भोपदः ।
तत्तत्कर्म कृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वञ्चितम् ॥१४॥

क्षमा किया पर अशक्त होकर, संसार सुख छोड़ा, पर विवश होकर सर्दी गर्मी आदि का दुख सहा पर तप न किया, धन का ध्यान किया पर कल्याण देनेवाले शंकरजी के चरणों का ध्यान नहीं किया। सारांश यह कि अपने को बुद्धिमान समझ कर हमने सौ-सौ कर्म किये परन्तु फल स्वरूप उल्टे ही ठगे गये।

वालिभिर्मुखमा क्रान्तं पलितैरंकितंशिः ।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका करुणायते ॥ १५ ॥

मुह के चमड़े सिकुड़ गये, शिर के बाल पक गये और अंग शिथिल हो गये पर एक तृष्णा ही ऐसी है जो युवा होती जाती है।

येनैवाम्बरखण्डने सम्वीतौ निशि चन्द्रमाः ।
तेनैव च दिवा भानुरहो दौर्गत्यमेतयोः ॥ १६ ॥

एक ही आकाश को प्राप्त करने के लिये सूर्य्य और चन्द्रमा दोनों भ्रमण करते हुए दुर्दशा को प्राप्त होते हैं पर फलीभूत कोई नहीं होता।

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया,
वियोगे को भेद त्यजति न जनो यत्स्वयममुन् ।
व्रजन्तः स्वातंत्र्याद तुलपरितापाय मनसः,
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥ १७ ॥

जब यह संचित विषय अंत में छूट ही जायगा तो मनुष्य

उसे प्रथम ही क्यों नहीं त्याग देते? क्योंकि जब अपने से छूट जायगा, तो दुख होगा और जब अपने ही उसे छोड़ देंगे, तो महा सुख की प्राप्ति होगी।

कृशः काणः खंजः श्रवणरहितः पुच्छविकलो,
व्रणी पूतिक्लिन्नः कृमिकुलशतैराचृततनुः ।
क्षुधा क्षामो जीर्णः पिठरजकपालार्पित गलः,
शुनीमन्वेतिश्वा हतमपि च हन्त्येव मदनः ॥१८॥

दुर्बल, काना, लँगड़ा, जिसके कान और पूंछ कटे हैं, घाव हो रहे हैं, पीब बहती, देह में कीड़े पड़े हैं, भूका, बूढ़ा और जिसके गले में फूटी हाँडी पड़ी हुई है, वह कुत्ता भी जब कुतियों के पीछे संगम करने की इच्छा से घूम रहा है, तो फिर पुष्ट और आरोग्य पुरुषों को कामदेव क्यों न दुख दें?

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं,
शय्या च भूः परिजनो निजदेह मात्रम् ।
वस्त्रं च जीर्ण शतखण्ड मलीन कन्था,
हाहा तथापि विषया न परित्यजंति ॥१९॥

माँगने पर भी एक ही समय नीरस अन्न खाने को मिलता है, भूमि पर सोते हैं, कुटुम्ब में भी कोई नहीं है, पुराने वस्त्र की सौ टुकड़े वाली गुदड़ी पहिने हैं पर तब भी आश्चर्य की बात तो यह है कि इन्हें वासनाएँ छोड़ती नहीं।

स्तनौ मांसग्रंथी कनक कलशा वित्यु पमितौ,
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशांकेन तुलितम् ।

स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्धि जघनं,
अहो निन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरु कृतम् ॥ २० ॥

कवि लोगों ने न मालूम क्यों इन निन्दा-योग्य स्त्रियों के रूप को इतना बढ़ाया है यथा मांस के लोंदे के स्तन को स्वर्ण-कलश, थूक खकार के गृह मुख को चन्द्रमा, मूत्र से भीगे जंघों को गजराज के सूंड की उपमा देते हैं।

अजानन् माहात्म्यं पततु शलभो दीप दहने।
स मीनोऽप्यज्ञाना द्बडिश युतमश्नातु पिशितम्॥
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जाल जटिलान्।
न मुंचामः कामानहह गहनो मोह महिमा॥ २१ ॥

मोह के वशीभूत होकर पतंग दीप पर गिरकर जल जाता है, मछली काटिये का मांस खाकर अपने प्राणों का नाश करती है। ठीक ही है, मोह की महिमा अति कठिन है, तभी तो लोग जान बूझकर इस दुखदाई विषयों की अभिलाषा नहीं छोड़ते।

विसमलमशनाय स्वादु पानाय तोयं,
शयनमवनिपृष्ठे वल्कले वाससी च।
नवधनमधुपान भ्रान्त सर्वेन्द्रियाणां,
मविनयमनुमन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम्॥२२॥

जब खाने को फल, पीने को मधुर जल, सोने को धरती और पहिनने के लिये वल्कल अर्थात् पेड़ों की छाल मौजूद ही है, तो फिर धन रूपी मदिरा को पीकर मत्त धनिकों को हम क्यों सेवें और उनका निरादर क्यों सहें?

विपुलहृदयैर्धन्यैः कैश्चिज्जगज्जनितं पुरा।

विधृतमपरैर्दत्तं चान्यैर्विजित्य तृणं यथा ॥
इहहि भुवनान्यन्ये धीराश्चतुर्दश भुंजते ।
कतिपयपुरस्वाम्ये पुंसां क एष मदज्वरः ॥ २३ ॥

कोई ऐसे महात्मा हुए जो संसार को उत्पन्न किया, कोई ऐसे हुए जिन्होंने इसे धारण किया और बहुतों ने इसे जीत कर और तुच्छ समझ कर औरों को दान में दे दिया । कितने ऐसे हैं जो लोगों को पालते हैं। यह देखकर भी मनुष्य केवल दो चार गाँव की ही ठकुराई पाकर गर्व करने लग जाता है । अर्थात् उन्हें अभिमान का ज्वर हो आता है ।

त्वं राजा वयमप्युपासित गुरुप्रज्ञाभिमानोन्नताः,
ख्यातस्त्वं विभवैर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्तिनः ।
इत्थं मानद नातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरम् ।
यद्यस्मासु पराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्ततो निस्पृहाः ॥२४॥

यदि तू राजा है तो मैं ने भी गुरु-सेवा के द्वारा बुद्धि प्राप्त कर उच्चपद को प्राप्त किया है । यदि तू धन से प्रसिद्ध है, तो कवि लोग हमारी विद्वता की ही प्रशंसा देश देशान्तरों में करते फिरते हैं । यही कारण है कि यदि तू हम से तनिक भी मुंह फेरता है, तो मैं तुझसे अधिक निस्पृह हो जाता हूं ।

अभुक्तायां यस्यां क्षणमपि न यातं नृपशतैर्भुवस्तस्या,
लाभे क एव बहुमानः क्षिति भुजाम् ।
तदंशस्याप्यंशे तदवयवलेशेऽपि पतयो,
विषादे कर्तव्ये विदधति जडाः प्रत्युत मुदम् ॥२५॥

जिस पृथ्वी को सैकड़ों राजा अपनी-अपनी कहकर मर गये

पर उनसे भी भोगी नहीं गई। तो फिर उस पृथ्वी के राज्य का अभिमान ही क्या है? पर यहाँ तो आज कल लोग उस समग्र पृथ्वी के खंड के खंड का खंडांश पाने पर भी लोग अपने को भूपति मानने लग जाते हैं। ज़रा देखो तो सही ये मूर्ख उल्टे इसी में आनन्द समझते हैं। संसार में यही तो आश्चर्य है।

मृत्पिण्डो जलरेखया वलयितः सर्वोऽप्ययं न त्वणु,
रंगीकृत्य स एव संयुतशतै राज्ञागणैर्भुज्यते।
तद्दद्युर्ददतेऽथवा न किमपि क्षुद्रा दरिद्रा भृशम्,
धिक्‌धिक् तान्पुरुषाधमान्धन कणां वांछन्तितेभ्योऽपियै ॥२६॥

यह भूमि मिट्टी के एक लौंदे और पानी की एक रेखा से घिरा हुआ है अर्थात् यह तो आपही छोटा है। तिस पर राजा लोग परस्पर सैकड़ों लड़ाइयाँ लड़-लड़ कर और अपना-अपना हिस्सा बाँट कर किसी प्रकार भोगते हैं। ऐसे क्षुद्र और दरिद्रों को जो बड़े दानी कहाते हैं। उन्हें दानी महादानी की उपाधि देकर जो अधम उनसे धन की कणिका की इच्छा करते हैं उन्हें धिक्कार है।

न नटा न विटा न गायना न परद्रोहनिबद्धबुद्धयः।
नृप सद्मनि नाम केवयं कुच भारानमिता न योषिताः॥२७॥

न तो हम नट हैं, न पर स्त्रियों के लम्पट हैं, न गानेवाले हैं, न झूठे लवार हैं और न बड़े-बड़े स्तन के भार से झुकी हुई स्त्री हैं, फिर हमको राजा के घर पूछता ही कौन है?

पुरा विद्वत्तासी दुपशमवतां क्लेश हतये,
गता कालेनासौ विषयसुख सिद्धयै विषयिणाम्।

इदानीं तूप्रेक्ष्य क्षितितलभुजः शास्त्र विमुखा,

नहो कष्टं सापि प्रतिदिनमधोधः प्रविशति ॥ २८ ॥

पहले तो पंडित लोग चित्त के दुखों को दूर करने के लिये विद्या पढ़ते रहे, फिर राजाओं को प्रसन्न कर तथा उनसे द्रव्यादि लेकर विषय-भोग करने के लिये पढ़ने लगे। किन्तु आज कल तो राजा लोग भी शास्त्र सुनने से विमुख होते जाते हैं, जिससे वह विद्या अधोगति को प्राप्त होती जाती है। यही चित्त में बड़ा शोक है।

स जातः कोप्यासीन्मदनरिपुणा मूर्ध्नि धवलं,

कपालं   यस्योच्चैर्विनिहितमलंकारविषये।

नृभिःप्राणत्राणप्रवणमतिभिः कैश्चिदधुना,

नमद्भिः   कःपुंसामयमतुलदर्पज्वरभरः ॥ २९ ॥

पहले तो ऐसे पुरुष हुए जिनके मस्तक की माला शिवजी धारण किये हैं। अर्थात् वे उनके भूषण हुए और अब के कुछ लोग ऐसे हैं जो कुछ लोगों से प्रतिष्ठा प्राप्त कर अभिमान रूपी ज्वर से ग्रसित हैं।

अर्थानामीशिषेत्वं वयमपि च गिरामीश्महेयावदित्थं।

शूरस्त्वं वादिदर्पज्वर शमन विधावक्षयं पाटवं नः ॥

सेवन्ते त्वांधनाढ्या मतिमलहतयेमामपि श्रोतुकामा।

मय्यप्यास्थाने चत्तत्वयिमम सुतरामेषराजन्गतोस्मि ॥३०॥

यदि तुम धन के धनी हो, तो हम भी विद्या के धनी हैं। तुम शास्त्रार्थ में प्रवीण हो, तो हम भी शास्त्रार्थ करने में वीर हैं। यदि तुम्हें धन-लोलुप लोग सेते हैं, तो हमें भी अज्ञान

दूर करने की इच्छा वाले तथा शास्त्र सुननेवाले सेवते हैं। हे राजन्! यदि हमारे प्रति तुम्हें श्रद्धा नहीं है, तो हमें भी तुम से कुछ काम नहीं है।

मानेम्लायिनि खंडिते च वसुनि व्यर्थं प्रयातेऽर्थिनि।
क्षीणे बंधुजने गते परिजने नष्टे शनैर्यौवने॥
युक्तं केवलमेतदेव सुधियां यज्जन्हुकन्यापयः।
पूतग्राव गिरिन्द्र कन्दर दरी कुंजे निवास क्वचित्॥३१॥

प्रतिष्ठा नष्ट हो गई द्रव्य नाश हो गया, याचक लोग आये पर विमुख होकर लौट गये, भ्राता, स्त्री, पुत्र तथा और सम्बन्धी नष्ट भ्रष्ट हो गये, तो ऐसे समय में बुद्धिमानों को उचित है कि जिस पहाड़ को गंगाजी पवित्र करती हैं उसकी कन्दरा में निवास करें।

परेषां चेतांसि प्रतिदिवसमाराध्य बहुधा।
प्रसादं किं नेतुं विशसि हृदय क्लेशकलितम्॥
प्रसन्नेत्वय्यंतः स्वयमुदित चिन्तामणि गुणे।
विमुक्तः संकल्पः किमभिलषितं पुष्यति न ते॥ ३२॥

अरे मन! तू स्वयं प्रसन्न होने के लिये व्यर्थ दूसरों को क्यों प्रसन्न करता है? यदि तू अपने संकल्प अर्थात् तृष्णा छोड़ दे, तो चिन्तामणि के समान आप ही प्रसन्न हो जावेगा। सारांश यह कि शान्ति, संतोषादि गुण ग्रहण करने पर आप ही मनुष्य की सारी आशाएँ-अभिलाषाएँ पूर्ण हो जायँगी।

भोगेरोग भयं कुले च्युतभयं वित्ते नृपालाद्भयं।
मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जरायाभयम्॥

शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतांताद्भयं ।
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्य मेवाभयं ॥ ३३ ॥

भोग में रोग का भय, सुख में दुख की आशंका, कुल में कुजाति का भय, धन में राजादि का भय, दास होने में स्वामी का भय, बल में शत्रु का भय, रूप में बुढ़ापन का भय, शास्त्र में पराजय का भय, गुण में दुष्टों का भय, शरीर को काल का भय है। अर्थात् सभी स्थान पर भय ही भय है केवल वैराग्य ही निर्भय है। अर्थात् संन्यासी को कुछ भय नहीं है।

अमीषां प्राणानां तुलित बिसिनीपत्र पयसां ।
कृतं किन्नासमभिर्विगलित विवेकैर्व्यवसितम् ॥
यदाढ्य नामग्रे द्रविण मदनिःशंकमनसा ।
कृतं व्रीडैर्निजगुण कथा पातक मपि ॥ ३४ ॥

जिस प्रकार कमल के पत्र पर जल चंचल रहता है, उसी तरह चंचलता से हमने विवेक त्याग, क्या-क्या न किया। अर्थात् धन मद से मदान्ध होकर अपने गुण गान का पाप हमने निर्लज्ज होकर किया, जो अनुचित था।

भ्रात कष्टमहोमहान्स नृपतिः सामन्त चक्र चतत् ।
पार्श्वे तस्य च सापिराज परिषत्ताश्चन्द्र बिम्बाननोः ॥
उद्रिक्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः ।
सर्वं यस्य वशादगात् स्मृतिपदं कालाय तस्मै नमः ॥ ३५ ॥

पहले यहाँ कैसी सुन्दर स्त्री, कैसा नगर था, राजा कैसा उत्तम था, उनके पुत्र कैसे थे, कैसे बन्दी जन थे जो अच्छी-अच्छी कथाएँ कहते थे, उन सबको जिस काल ने चौपट किया है, उस काल को नमस्कार है।

वयं येभ्यो जाताश्चिरपरिगता एव खलु ते ।
समं यैः सम्वृद्धा स्मृति विषयतां तेऽपि गमिताः ॥
इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्न पतनाद् ।
गतास्तुल्यावस्थां सिकतिल नदी तीरतरुभिः ॥ ३६ ॥

जिनसे हम जन्मे थे वे तो बहुत दिन हुए चले गये, जिनके साथ रहे वे भी स्मरण पद में गये । हम भी दिन-दिन गिरते जा रहे हैं और बालू की नदी-तट पर के वृक्ष की भाँति लटकते जा रहे हैं ।

यत्रानेकः क्वचिदपि गृहे तत्र तिष्ठत्यथैको ।
यत्राप्येकस्तदनु बहवस्तत्र चान्ते न चैकः ॥
इत्थं चेमौ रजनि दिवसौ दोलयन् द्वाविवाक्षौ ।
कालः काल्या सह बहुकलः क्रीडति प्राणिसारैः ॥३७॥

जिस घर में एक थे वहाँ अनेक देख पड़ते हैं और जहाँ अनेक थे वहाँ अब एक हैं । मालूम होता है काल, रात दिन के पासे संसार रूपी चौपड़ के खेल में प्राणियों की गोटी बनाकर अपनी कालत्व शक्ति के साथ खेल रहा है ।

तपस्यन्तः सन्तः किमधिनिवसामः सुरनदीं ।
गुणो दर्शान दारानुत परिचरामः सविनयम् ॥
पिबामः शास्त्रौघान् द्रुतविविध काव्यामृतरसान् ।
न विद्मः किं कुर्मः कतिपय निमेषांयुपि जने ॥३८॥

तप करते हुए गंगा-तट पर रहेंगे, गुणवती स्त्रियों के साथ रहेंगे, वेदान्त शास्त्र आदि व्यामृत को पियेंगे । अर्थात् इस

क्षणभंगुर शरीर से यदि मनुष्य चाहे तो क्या-क्या नहीं कर सकता ?

गंगातीरे हिमगिरि शिला बद्ध पद्मासनस्य ।
ब्रह्मध्याना भ्यसनविधिना योग निद्रा गतस्य ॥
किं तैर्भाव्यं ममसुदिवसैर्यत्र ते निर्विशंकाः ।
सम्प्राप्स्यन्ते जरठ हरिणाः शृंगकंडूविनोदं ॥ ३९ ॥

देखें हमारे वह सुदिन कब आते हैं कि जिस दिन गंगा के तट पर हिमालय की शिला पर आसन लगा पद्मासन बैठूंगा। ब्रह्मज्ञान के अभ्यास में आँख मूंद योग जगाऊँगा और बूढ़े हिरण अशंक होकर हमारे शरीर को अपनी सींगों से खुजलावेंगे ?

स्फुरत्स्फार ज्योत्स्नाधवलिततले क्वापि पुलिने ।
सुखासीनाः शान्तध्वनिषु रजनीषु द्युसरितः ॥
भवाभोगोद्विग्नाः शिवशिवशिवेत्यार्तवचसा ।
कदा स्यामानन्दोद्गत बहुल बाष्पप्लुतदृशा ॥ ४० ॥

किस दिन मैं चन्द्रमा की निर्मल चाँदनी में पवित्र सलिला गंगा के तट पर बैठकर ध्यान करूँगा और सुनसान रात्रि में शिव-शिव करते हुए संसार के दुख भूल आनन्द के आँसू बहाऊँगा।

महादेवो देवः सरिदपि च सैषा सुरसरिद् ।
गुहा एवागारं वसनमपि ता एव हरितः ॥
सुहृद्वा कालोऽयं व्रतमिदमदैन्य व्रतमिदं ।
कियद्वा वक्ष्यामो वटविटपएवास्तु दयिता ॥ ४१ ॥

हमारे लिये महादेव ही एक मात्र देव, गंगा ही नदी, गुफा ही घर, काल ही मित्र, निर्भयता ही व्रत और वटवृक्ष ही हमारा प्यारा है।

एकाकी निस्पृहः शांतः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः॥ ४२॥

ऐसा कब होगा जब कि हमको एकान्त में रहने की इच्छा होगी तथा हे शिव! ऐसा सुदिन कब आवेगा जब कि हम हाथ को ही पात्र बनाये दिगम्बर रूप से कर्मों की जड़ उखाड़ने में समर्थ हो सकेंगे?

आशानाम नदी मनोरथ जला तृष्णा तरंगाकुला।
रागग्राहवती वितर्क विहगा धैर्यद्रुमध्वंसना॥
मोहावर्त सुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्ता तटी।
तस्याः पारगता विशुद्ध मनसो नन्दन्ति योगीश्वरा॥४३॥

आशा की नदी, मनोरथ का जल, तृष्णा ही उसकी लहर है, इसमें प्रेम के मगर, तर्क रूपी पक्षी हैं, धैर्यरूपी वृक्ष को गिराने वाली मोह-रूपी भँवर भी हैं। इस भयँकर नदी में भौंरा रूपी मन पड़ा हुआ है। इसीलिये बड़ी चिन्ता है क्योंकि उस दुख-तट वाली नदी को कोई विरले योगी ही पार कर सकते हैं।

आसंसारं त्रिभुवनमिदं चिन्वता तात तादृङ्।
नैवास्माकं नयनपदवीं श्रोत्रवर्त्मागतो वा॥
योऽयं धत्ते विषयकरिणी गाढ गूढाभिमानः।
क्षीवस्यान्तः करण करिणः संयमालानलीलां॥४४॥

हे मित्र! जब से यह संसार बना तब से हम एक भी ऐसे

अभिमानी को खोजते हैं जो मन रूपी उन्मत्त हाथी और विषय रूपी हथिनियों को वश में कर सके। पर मिलना तो दूर रहा सुनने में भी न आया।

ये वर्द्धन्ते धनपति पुरः प्रार्थनादुःख भाजो।
ये चाल्पत्वं दधति विषयाक्षेप पर्यस्त बुद्धेः॥
तेषा मन्तः स्फुरितहसितं वासराणां स्मरेयं।
ध्यानच्छेदेशिखरि कुहरग्राव शय्या निषण्णः॥ ४५॥

हम किस दिन, धनिकों से प्रर्थना करके दुख पाये हुए तथा विषयी लोगों से अपने को छोटा समझने वाले बुद्धिमानों की दशा पर हँसते हुए पहाड़ की कन्दरा में बैठकर परमात्मा का ध्यान करेंगे।

विद्यानाधिगताकलंकरहिता वित्तं च नोपार्जितं।
शुश्रूषापि समाहितेन मनसा पित्रोर्न सम्पादिता॥
आलोलायतलोचनायुवतयः स्वप्नेपि नालिंगिताः।
कालोयं परपिण्ड लोलुपतया काकैरिवप्रेरितः॥ ४६॥

विद्या नहीं पढ़ी, धन न कमाया, एकाग्र चित्त से माता पिता की सेवा भी नहीं किया और चंचल तथा बड़े-बड़े नेत्र वाली सुंदरियों को स्वप्न में भी गले न लगाया, बल्कि पराये ग्रास का लोभ करते हुए कौवे के समान व्यर्थ ही समय बिताया।

वितीर्णे सर्वस्वे तरुणकरुणा पूर्ण हृदयाः,
स्मरन्तः संसारे विगुण परिणामावधिगतीः।

वयं पुण्यारण्ये परिणत शरच्चन्द्रकिरणै स्त्रियामां,
नेष्यामो हरचरण चितैक शरणाः ॥ ४७ ॥

इस असार संसार में सर्वस्व के नष्ट होने पर व्यर्थ रोते हैं, क्योंकि यह तो एक दिन जायगा ही। इस लिये हे शिवजी! ऐसा सुदिन कब होगा कि मैं आपको रक्षक समझ आपके चरणों का ध्यान करते हुए शरद ऋतु की चाँदनी में बैठकर रात्रि व्यतीत करूँगा।

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या,
सम इह परितोषो निर्विशेषाविशेषः।
स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला.
मन सि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥ ४८ ॥

हम वल्कल पर ही संतोष किये हैं और तुम धन से ही संतुष्ट हो, तो हम दोनों बराबर ठहरे। क्योंकि जब दोनों संतुष्ट हुए तो फिर कौन धनी, कौन दरिद्र?

यदेतत्स्वाच्छन्द्यं विहरणमकार्पण्यमशनं।
सहार्यैः संवासः श्रुतमुपशमैक व्रत फलम् ॥
मनो मन्दस्पन्दं वहिरपि चिरस्यापि विमृशन्।
न जाने यस्यैषा परिणतिरुदारस्य तपसः ॥ ४९ ॥

स्वाधीन रहना, बिना माँगे भोजन मिलना, सत्संग होना, शास्त्र कहना वा सुनना, मन को वश में करके विचार पूर्वक कार्य करना ये सब पूर्व जन्म के तपस्या के फल हैं।

भोगामेघवितानमध्य विलसत्सौदामिनीचंचला,
आयुर्वायुविघट्टिता भ्रपटलीलीनाम्बुवद्भं गुरम् ।

लोला यौवन लालना तनुभृतामित्याकलय्य द्रुतं ।
योगे धैर्य समाधि सिद्धि सुलभे बुद्धिं विधध्वंबुधा ॥५०॥

मेघ मंडल में चमकनेवाली बिजली के समान देहधारियों का भोग चंचल है, वायु द्वारा छिन्न भिन्न मेघ के समान आयु भी नाशवान है और यौवन का उमंग भी स्थिर नहीं है। ऐसा विचारकर हे पंडितो! धैर्य्य पूर्वक समाधि लगाकर योग का अभ्यास करते हुए परम पिता परमात्मा के भजन करो।

पुण्येग्रामे वने वा महति सितपटच्छन्नपाली कपाली ।
मादाय न्यायगर्भद्विजमुखहुत भुग्धूमधूम्रोपकण्ठम् ॥
द्वारं द्वारं प्रवृत्तो वरमुदरदरी पूरणाय क्षुधार्तो ।
मानी प्राणी स धन्यो नपुनरनुदिनं तुल्यकुल्येषुदीनः ॥५१॥

जिनकी चौखट न्याय पूर्वक ब्राह्मणों की होमी हुई अग्नि के धूम से मलीन हो, उनके द्वार पर चाहे नगर हो वा वन, उज्ज्वल वस्त्र पहन हाथ में ठीकरा लेकर क्षुधा से पीड़ित, पेट रूपी कंदरा को भरने के लिये भीक माँगना अच्छा, परंतु समान कुल में दरिद्र होना अच्छा नहीं।

चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथकिंतापसः,
किं वा तत्वनिवेश पेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपिकिम्।
इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैः सम्भाष्यमाणा जनैर्न-
क्रुद्धाः पथिनैव तुष्टमनसो यांति स्वयं योगिनाः ॥ ५२ ॥

यह चांडाल है वा ब्राह्मण, शूद्र तपस्वी है अथवा तत्व जाननेवाला पंडित, योगीश्वर है या धूर्त? ऐसे लोगों के

कहते हुए भी योगी लोग किसी से राग-द्वेष नहीं करते बल्कि स्वच्छन्द अपने अचल पथ पर चले जाते हैं।

एतस्माद्विरमेन्द्रियार्थगहनादायासकादाश्रया,
च्छ्रेयोमार्गमशेषदुःखशमनव्यापारदक्षं क्षणात्।
शांतंभावमुपैहिसन्त्यज निजां कल्लोललोलांगतिं,
मा भूयोभजभंगुरां भवरतिं चेतः प्रसीदाधुना ॥ ५३ ॥

हे चित्त! दुखद इन्द्रियों के विषय रूपी वन में विश्राम ले, सभी दुखों को विध्वंश करनेवाले सुखदायी मार्ग को ग्रहण कर, शांत हो चंचलता छोड़ दे और नाशवान संसारी इच्छाओं को त्याग कर प्रसन्न हो।

मोहं मार्जयतामुपार्जयरतिं चन्द्रार्धचूड़ामणौ,
चेतः स्वर्गतरंगिणीतटभुवामासंगमंगीकुरु।
कोवावीचिषुबुद्बुदेषु चतडिल्लेखासु च स्त्रीषु च,
ज्वालाग्रेषु च पन्नगेषु च सरिद्वेगेषु च प्रत्ययः ॥ ५४ ॥

हे मन! मोह को छोड़ शशिधर शिव से प्रेम कर, गंगा तट के वृक्षों के नीचे विश्राम कर। क्योंकि तरंग, पानी के बुलबुले, बिजली की चमक, अग्निज्वाल की शिखा और नदी के प्रवाह के स्थिर रहने का क्या विश्वास है? इन्हीं वस्तुओं की भाँति स्त्री भी चंचल है इसलिये उनके लीला-विलास में मत भूल।

पुण्यैर्मूलफलैः प्रिये प्रणयिनि प्रीतिं कुरुष्वाधुना।
भूशय्या नववल्कलैरकरुणैरुत्तिष्ठ यामो वनम् ॥

क्षुद्राणामविवेकमूढ मनसां यत्रेश्वराणां सदा ।
वित्तव्याध्य विवेक विह्वलगिरा नामापि न श्रूयते ॥ ५५ ॥

हे नीतिज्ञ प्रिय बुद्धि ! तू हम से प्रेम कर, आगे चल कंद मूल खा, भू-शैया पर सो और नवीन वल्कल वसन धारण कर क्योंकि अब हम वहाँ जाते हैं जहाँ मूर्ख, क्षुद्र, लोलुप और व्याध जनित अविचार से भरे हुए पुरुषों का नाम भी नहीं सुन पड़ता ।

अग्रेगीतं सरसकवयः पार्श्वतो दाक्षिणात्याः ।
पृष्ठे लीलावलयरणितं चामरग्राहिणीनाम् ।
यद्यस्त्येवं कुरु भवरसास्वादने लम्पटत्वं ।
नोचेच्चेतः प्रविश सहसा निर्विकल्पे समाधौ ॥ ५६ ॥

सामने गवैये गाते हों, दोनों तरफ कवि लोग सरस काव्य सुनाते हों और पीछे चवँर डुलाने वाली सुन्दर स्त्रियों के कंकड़ की ध्वनि होती हो यदि ऐसा सुख मिले तो संसार में लिपटना चाहिए नहीं तो हे मन ! चिर समाधि में प्रवेश कर ।

विरमत बुधा योषित्संगात्सुखात् क्षणभंगुरात् ।
कुरुत करुणामैत्रिप्रज्ञा वधूजन संगमम् ॥
न खलु नरके हाराक्रान्तं घनस्तनमण्डलम् ।
शरणमथवा श्रोणीबिम्बं रणन्मणि मेखलम् ॥५७ ॥

हे पंडितो ! स्त्रियों के संग और क्षणिक सुखों से विश्राम लो, मैत्री, करुणा तथा प्रज्ञा रूपी स्त्री से संगम करो, क्योंकि जिस समय नर्क में ताड़ना होगी, उस समय हारों से भूषित स्त्रियों के कुच मंडल और क्षुद्र घंटिका से शोभित उनके कटि तुम्हारी रक्षा न कर सकेंगे ?

मातर्लक्ष्मि भजस्व कंचिद परं मत्कांक्षिणीमास्मभू-
र्भोगेभ्याः स्पृहयालवो न हिवयं का निस्पृहाणामसि ।
सद्य पुतपलाश पत्र पुटिकापात्रे पवित्रकृते,
भिक्षा सक्तुभिरेव सम्प्रति वयं वृत्ति समीहामहे ॥ ५८ ॥

हे लक्ष्मी माता ! अब तू किसी अन्य पुरुष को सेवन कर और हमारी आकांक्षा न कर, क्योंकि अब हम निस्पृह हो गये हैं, हमें विषय-भाग की इच्छा नहीं रही। जो निस्पृह और विरक्त होते हैं उनके यहाँ तुम्हारा मान नहीं होता, ये लोग तुझे तुक्ष समझते हैं। अब तो हम केवल पलास-पत्र के दोनों में भिक्षा के सत्तू स अपना पेट भरने की इच्छा करते हैं।

यूयं वयं वयं यूयमित्यासीन्मतिरावयोः ।
किं जातुमधुना मित्र येन यूयं वयंवयम् ॥ ५९ ॥

हे मित्र! प्रथम हमारी यह बुद्धि थी कि जो हम हैं सो तुम हो अर्थात् दोनों में कुछ अन्तर नहीं है। पर न मालूम कौन सी नई बात हुई कि अब हम यह समझते हैं कि हम हमीं हैं और तुम, तुम्हीं हो अर्थात् हम में अन्तर है।

गंगातरंग कणशीकरशीतलानि,
विद्याधराध्युषितचारुशिला तलानि।
स्थानानि किं हिमवतः प्रलयंगतानि,
यत्सावमानपरपिंडरता मनुष्याः ॥ ६० ॥

गंगा की लहरों से उठनेवाले छोटे-छोटे कणों से शीतल तथा जिसके चट्टानों पर विद्याधर बैठते हैं, क्या वस हिमालय

का प्रलय हो गया जो अपमानित होते हुए भी लोग पराये के दिये हुए ग्रास पर निर्वाह करते हैं ?

यदामेरुः श्रीमान्निपतति युगान्ताग्निनिहतः ।
समुद्राः शुष्यन्ति प्रचुरनिकर ग्राह निलयाः ॥
धरा गच्छत्यन्तं धरणिधरपादैरपि धृता ।
शरीरे का वार्ता करिकलभकर्णाग्र चपले ॥ ६१ ॥

जब प्रलयाग्नि से सुमेरु पर्वत गिर पड़ते हैं, बड़े बड़े मगर और ग्राहों का घर समुद्र भी सूख जाता है तथा पहाड़ों से दबी हुई पृथ्वी का भी नाश हो जाता है, तो हाथी के कान के समान चंचल मनुष्य के शरीर की क्या गणना है ?

प्राप्ताः श्रियः सकल कामदुघास्ततः किं ।
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ॥
सम्मानिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं ।
कल्पं स्थितं तनुभृता तनुभिस्ततः किम् ॥ ६२ ॥

इस नश्वर शरीर धारियों ने कामधेनु सी लक्ष्मी पाई तो क्या, शत्रुओं को पराजित किया तो क्या, धन से मित्रों का सम्मान किया तो क्या और कल्प भर जीता रहा, तो क्या हुआ ? जो परलोक न बनाया। अर्थात् उसका सब निष्फल है ।

जीर्णा कन्था ततः किंसित मम लपटं पट्टसूत्रं ततः किं ।
एकाभार्याततः किं हयकरिसुगणैरावृतो वा ततः किं ॥

भक्तं भुक्तं ततः किं कदशनमथवा वासरान्ते ततः किं ।
व्यक्तज्योतिर्नवान्तर्मथित भवभयं वैभवं वा ततः किम् ॥६३॥

पुरानी गुदड़ी पहिना तो क्या, उज्ज्वल वस्त्र तथा पीताम्बर धारण किया तो क्या, एक ही स्त्री रही तो क्या, अनेक घोड़े हाथियों समेत कई स्त्रियाँ रहीं तो क्या, अच्छे-अच्छे भोजन किये तो क्या, कुत्सित अन्न खाया तो क्या हुआ, जब तक कि इस परमात्मा की ज्योति से हृदय प्रकाशित नहीं हुआ तो सारा वैभव व्यर्थ है।

भक्तिर्भवे मरणजन्म भयं हृदिस्थं,
स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः।
संसर्ग दोष रहिता विजना वनान्ता,
वैराग्यमस्ति किमतः परमार्थनीयम् ॥ ६४ ॥

सदा शिव की भक्ति हो, जन्म मरण का भय न हो स्वजनों से प्रेम न हो, कामदेव के विकार मन से दूर हों, संसर्ग दोषों से मुक्त हो, सुनसान वन में रहे और सुख से वैराग्य हो। भला अब कहो, इससे अधिक कोई परमात्मा से क्या माँगेगा ?

तस्मादनन्तमजरं परमं विकासि,
तद्ब्रह्म चिन्तय किमेभिर सद्विकल्पैः।
यस्या नुषंगिण इमे भुवनाधिपत्य,
भोगादयः कृपण लोक मता भवन्ति ॥ ६५ ॥

जिस ब्रह्म के लेशमात्र आनन्द पाये हुए को त्रिभुवन का

राज सुख मूर्खों के योग्य ठहरता है, उन्हीं सच्चिदानन्द को सारे अहंकारों को छोड़कर क्यों नहीं भजते ।

पातालमाविशसि यासि नभो विलंघ्य,
दिङ्मण्डलं भ्रमसि मानस चापलेन ।
भ्रान्त्यापि जातु विमलं कथमात्मनीनं,
तद् ब्रह्म न स्मरसि निर्वृतिमेषि येन ॥ ९६ ॥

हे चित्त । तू चंचल होकर कभी पाताल में जाता है, कभी आकाश में उड़ता है और कभी चारो दिशाओं में भ्रमण करता है पर अपने हृदय स्थित ब्रह्म का ध्यान क्यों नहीं करता, जिसके द्वारा तू परमानन्द को प्राप्त हो सकता है ।

रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो गत्वा बुधा जन्तवो,
धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृत प्रारब्ध तत्तत्क्रियाः ।
व्यापारैः पुनरुक्त भुक्त विषयै रेवं विधेनामुना,
संसारेण कदर्थिताः कथमहो मोहान्नलज्जामहे ॥ ९७ ॥

आश्चर्य है कि लोग दुख पाते हुए भी मोह माया नहीं छोड़ते और पंडित लोग भी भोजनादि विषय-व्यापार के लिये प्रारब्ध को ठोकर मारकर नित्य रात दिन चक्कर लगाते हुए नहीं शरमाते ।

महीरम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता,
वितानं चाकाशं व्यजन मनुकूलोऽयमानिलः ।
स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरतिवनितासंग मुदितः,
सुखं शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ॥ ९८ ॥

भूमि की सुन्दर शैया पर, भुजा का सिरहानी बना, आकाश के तम्बू में वायूरूपी पंखा से वायु लेता हुआ चन्द्रमा रूपी दीपक के प्रकाश में शान्त पुरुष अपनी विरक्तता रूपी स्त्री के साथ बड़े-बड़े ऐश्वर्यमान राजाओं के समान सुख से सोते हैं।

त्रैलोक्याधिपतित्वमेव विरसं यस्मिन्महाशासने।
तल्लब्ध्वासनवस्त्रमानघटने भोगेरतिं मा कृथा॥
भोगः कोपिस एक एव परमो नित्योदितो भृम्भते।
यत्स्वादाद्विरसा भवंति विषयास्त्रैलोक्यराज्यादयः॥६९॥

जिस ब्रह्मज्ञान के आगे त्रिलोक का आनन्द फीका है, उसे पाकर भोजन, वस्त्र और मान बड़ाई की चेष्टा न करो। वही भोग सब से श्रेष्ठ है जिसके आगे त्रैलोक्य का ऐश्वर्य भी नीरस हो जाता है।

किं वेदैः स्मृतिभिः पुराण पठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः।
स्वर्गग्राम कुटी निवास फलदैः कर्मक्रिया विभ्रमैः॥
मुक्त्वैकं भवबन्धदुःखरचना विध्वंस कालानलं।
स्वात्मानन्दपद प्रवेश कलनं शेषा वनिग्वृत्तयः॥ ७० ॥

श्रुति, स्मृति, पुराण और शास्त्रादि पढ़ा तो क्या, स्वर्ग-ग्राम कुटी में निवास किया तो क्या, संसार बन्धन को छुड़ाने में प्रलयाग्नि जो ब्रह्मानन्द पद है उसमें प्रवेश करने के उद्योग विना और सब संसारिक व्यापार व्यर्थ है।

ब्रह्मांडमण्डलीमात्रं किं लोभाय मनस्विनः।
शफरी स्फुरितेनाब्धेः क्षुब्धता जातु जायते॥ ७१ ॥

जिस प्रकार मछली के उछलने से समुद्र नहीं उमड़ता उसी प्रकार श्रेष्ठ विचारवान लोगों को कोई सारा ब्रह्माण्ड देकर भी नहीं लुभा सकता।

रम्याश्चन्द्रमरीचयस्तृणवती रम्या वनान्तरस्थली।
रम्यः साधुसमागमः शमसुखं काव्येषु रम्याः कथा॥
कोपोपहितबाष्पबिन्दु तरलं रम्यं प्रियाया मुखं।
सर्वं रम्यमनित्यतामुपगते चित्ते न किंचित्पुनः॥७२॥

चन्द्र की किरणें भली लगती थीं, हरी घास वाली वन-भूमि क्या रमणीक थी, मित्रों का साथ उत्तम था, शृंगार रसमयी कविता प्यारी लगती थी और क्रोध के आँसुओं के बूंद से चंचल और मनोहर प्यारी का मुंह सुन्दर लगता था, पर जब से वैराग्य हुआ तब से यह सब कुछ चित्त से जाता रहा।

भिक्षाशी जनमध्यसंगरहितः स्वायत्तचेष्टः सदा।
दानादानं विरक्तमार्ग निरतः कश्चित्तपस्वी स्थितः॥
रथ्याकीर्णविशीर्ण जीर्ण वसनै सम्प्राप्त कन्थासखी।
निर्मानोनिरहंकृतिः शमसुखाभोगैकबद्धस्पृहः॥७३॥

भीख माँग कर खाना, अकेले रहना, स्वाधीन विचार करना, देने-लेने के झगड़े में न पड़ना, फटे पुराने वस्त्रों की गुदड़ी ओढ़ना, मान अहंकार से रहित होना और ब्रह्मानन्द की इच्छा करना, यह सब कोई तपस्वी ही कर सकता है।

मातर्मेदिनि तात मारुत सखे तेजः सुबन्धो जल।
भ्रातर्व्योम निबद्ध एव भवतामेष प्रणामांजलिः॥

पुष्मत्संगवशोप जात सुकृतो द्रेकस्फुरत्निर्मल ।
ज्ञानापास्त समस्त मोहमहिमा लीयेपरे ब्रह्मणि ॥ ७४ ॥

हे माता पृथ्वी, पिता वायु, सखा तेज, बन्धु जल और भाई आकाश तुम्हें हाथ जोड़कर अंत काल में प्रणाम करता हूँ, क्योंकि तुम्हारे संग से पुण्य हुआ, पुण्य के उदय होने से ज्ञान निर्मल हुआ और निर्मल ज्ञान से मोह माया दूर हुआ जिससे अब हम ब्रह्म में लीन होते हैं।

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा ।
यावच्चेन्द्रिय शक्तिर प्रतिहता यावत् क्षयो नायुषः ॥
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान ।
प्रोद्दीप्ते भवने च कूप खननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥ ७५ ॥

जब तक शरीर पुष्ट है, निरोग है, वृद्धापन दूर है, इन्द्रियों की शक्ति कम नहीं हुई है, आयुष्य भी क्षीण नहीं हुई है तब तक बुद्धिमानों को चाहिये कि कल्याण का उपाय करलें, नहीं तो घर जलने पर कुवाँ खोदने से क्या होगा ?

नाभ्यस्ता भुविवादिवृन्द दमनी विद्याविनीतोचिता ।
खड्गाग्रैः करिकुम्भपीठ दलनैर्नाकं न नीतं यशः ॥
कान्ता कोमल पल्लवाधरमः पीतो न चन्द्रोदये ।
तारुण्यंगतमेवनिष्फलमहोशून्यालये दीपवत् ॥ ७६ ॥

यदि नम्र जनों को खुश करनेवाली, वादियों के घमंड को चूर करनेवाली विद्या नहीं पढ़ी, तलवार के अग्रभाग से हाथी का मस्तक काट स्वर्ग में अपना यश न फैलाया और चाँदनी रात में सुन्दर स्त्री के कोमल अधर पल्लव के रस का

पान नहीं किया, तो हमारी यह जवानी उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार कि सुनसान घर में दीपक।

ज्ञानं सतां मानमदादिनाशनं,
केषां चिदेतन्मदमान कारणम्।
स्थानं विविक्तं यमिनां विमुक्तये,
कामातुराणामतिकाम कारणम्॥ ७७॥

सत्पुरुषों का ज्ञान मदादि को नष्ट करता है, और वही ज्ञान मूर्खों को मद से मत्त कर देता है। जैसे एकान्तवास योगियों को योग-साधन का कारण होता है, तो वही कामियों को काम-साधन का कारण बन जाता है।

जीर्णा एव मनोरथाः स्वहृदये यातं जरा यौवनं,
हन्ताङ्गेषु गुणाश्चवन्ध्यफलता याता गुणज्ञैर्विना।
किं युक्तं सहसाभ्युपैति बलवान् कालः कृतान्तोऽक्षमी।
ह्याज्ञातं स्मरशासनांघ्रियुगलं मुक्त्वास्तिनान्यागतिः॥ ७८॥

सभी मनोरथ हृदय में ही जीर्ण हो गये, कुछ सिद्ध न हुआ और युवा बीत गई, मेरे सारे गुण बिना गुणग्राहक के व्यर्थ हुए और सर्वनाशी भयंकर काल समीप आ रहा है ऐसे समय में बिना शिवजी के चरण के कोई दूसरी गति नहीं है।

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि।
क्षुधार्तः सन्शालीनकवलयति शाकादिवलितान्॥

प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमाश्लिष्यति वधूं ।
प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥७५॥

जब मनुष्य प्यासा होता है, तो शीतल सुगंधित जल पीता है, जब भूका होता है तो भोजन करता है, जब काम वासना होती है तो सुन्दर स्त्री को गले लगाता है। यदि विचारा जाय तो यह एक-एक रोग की एक-एक दवा है। पर मूर्ख लोग इसे उलटा ही सुख समझते हैं।

शय्या शैलशिला गृहं गिरिगुहा वस्त्रं तरूणांत्वचः,
सारंगा सुहृदो ननु क्षितिरुहा वृत्तिः फलैः कोमलैः।
येषां निर्झरमम्बुपानमुचितं रत्यैव विद्यांगना,
मन्येतेपरमेश्वराः शिरशियैबद्धोनसेवांजलिः ॥ ८० ॥

पहाड़ की चट्टान जिनकी शय्या, कन्दरा घर, वृक्षों की छाल कपड़ा, जंगली हिरन मित्र, फलादि भोजन, झरने का जल पीने को और विद्या ही जिनकी स्त्री है। ऐसे महापुरुषों को जो दूसरों को अपने सुख के लिये प्रणाम नहीं करते (दूसरों की सेवा अपने स्वार्थ के लिये नहीं करते) उन्हें हम साक्षात् परमात्मा मानते हैं। अर्थात् जो लोग संसार से विरक्त हैं और सांसारिक विषय-वासना को अस्थिर समझते हैं वे ही ज्ञानवान पुरुष ईश्वर के तुल्य हैं।

उद्यानेषु विचित्र भोजन विधिस्तीव्रातितीव्रं तपः।
कौप निवरणाम सुवस्त्र ममितं भिक्षाटनं मण्डनम् ॥

आसन्नं मरणं च मंगल समं यस्यां समुत्पद्यते ।
ता काशीं परिहृत्यहन्त विबुधैरन्यत्रकिंस्थीयते ॥८१॥

जिस काशी में, उपवनों में भोजन बनाकर खाना ही कठिन से कठिन तप है और लँगोटी पहिनना ही जहाँ सुन्दर वस्त्र है, भीख माँगना ही जहाँ आभूषण है और मृत्यु आना ही परम मंगल है। भला उस काशी को छोड़कर लोग अन्यत्र क्यों बसते हैं?

नायन्ते समयोरहस्य मधुना निद्राति नाथो यदि,
स्थित्वाद्रक्ष्यति कुप्यति प्रभुरिति द्वारेषु येषां वचः।
चेतस्तान पहाय याहि भवनं देवस्य विश्वेशितु-
र्निर्दौवारि कनिर्दयोक्त्यपुरुषं निःसीमशर्मप्रदं ॥८२॥

अभी समय नहीं है, महाराज एकान्त में कुछ विचार रहे हैं, अभी सोते हैं, ड्योढ़ी पर से उठो, तुम्हें बैठे देख हमारे महाराज हम पर क्रुद्ध होंगे। ऐसे वचन जिनके द्वार पर पहरेदार करते हों, उन्हें त्याग, हे चित्त! उस परमात्मा की शरण में क्यों नहीं जाता? जहाँ कोई रोकनेवाला नहीं है।

महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि ॥
तयोर्नभेदप्रतिपत्तिरस्तिमे तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे ॥८३॥

मुझे विष्णु और शिव में कुछ अन्तर नहीं दीखता, पर जिनके भाल पर चन्द्र शोभित हैं उन्हीं में हमारी प्रीति है।

भोगाभंगुरवृत्तयो बहुविधास्तैरेव चायं भव-

एतत्कस्यैव कृते परिभ्रमत रे लोकाः कृतंचेष्टितैः ।
आशापाशशतोपशांतिविशदं चेतः समाधीयतां,
कामोच्छित्ति वशेस्वधामनियदि श्रद्धेयमस्यद्वचः ॥ ८४ ॥

संसार में जितने भोग हैं वे सभी नाशवान हैं, संसार में जन्म-मरण लगा रहता है यह जानते हुए भी न मालूम लोगों को भोग रूपी चक्र में भ्रमते हुए क्या फल मिलता है ? मित्रो, यदि मेरा कहा मानो तो प्रकाश रूप काम-नाशक श्रीशिवजी में अपना चित्त लगाओ ।

न्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योति परं ध्यायतामा-
नन्दाश्रुजलं पिबन्ति शकुना निःशंकमंकेशयाः ।
अस्माकं तु मनोरथो परचित प्रासादवापीतट क्रीड़ा,
कानन केलि कौतुकजुषामायुः परिक्षीयते ॥ ८५ ॥

जो पुरुष पर्वत की कन्दरा में बैठकर परमात्मा का ध्यान करते हैं, उनके आनन्दाश्रुओं को पक्षीगण गोद में बैठकर निर्भयता के साथ पीते हैं । और हम लोग केवल मनोरथ के भवन में तथा क्रीड़ा कानन में खेलते हुए अपना जीवन समाप्त कर देते हैं । तात्पर्य्य यह कि हम लोगों का जन्म अनेक मनोरथों की भावना में ही व्यतीत होता है और वास्तव में कोई इच्छा पूर्ण नहीं होती ।

आघ्रातं मरणेन जन्म जरया विद्युच्चलं यौवनं ।
सन्तोषो धन लिप्सया शमसुखं प्रौढ़ांगनाविभ्रमैः ॥

लोकैर्मत्सरिभिर्गुणा वनभुवो व्यालैर्नृपा दुर्जनैः।
रस्थैर्येण विभूतिरप्यपहृता ग्रस्तं न किं केन वा ॥ ८६ ॥

मृत्यु ने जन्म को, बृद्धापन ने युवापन को, धन की इच्छा ने संतोष को, स्त्रियों के हाव भाव ने शांत सुख को, मत्सर ने गुणों को, सर्पों ने वन-भूमि को, दुष्टों ने राजा को और चंचलता ने धैर्य्य को अर्थात् इस संसार में इसी प्रकार किसको किसने नहीं ग्रास कर रक्खा है।

आधि व्याधि शतैर्जनस्य विविधैरारोग्यमुन्मूल्यते,
लक्ष्मीर्यत्र पतन्ति तत्र विवृतद्वारा इव व्यापदः।
जातं जातमवश्यमाशु विवशं मृत्युः करोत्यात्मसात्तत् किं,
नाम निरंकुशेन विधिना यन्निर्मितं सुस्थितम् ॥ ८७ ॥

अनेक रोगों ने आरोग्यता को बिगाड़ दिया, दरिद्रता ने द्रव्य का स्थान ले लिया, जन्म लेनेवाले को मृत्यु अवश्य वश में कर लेती है। अर्थात् कोई भी वस्तु विधाता ने स्थिर नहीं बनाया है।

कृच्छ्रेणामेध्यमध्ये नियमिततनुभिः स्थीयते गर्भमध्ये-
कान्ता विश्लेषदुःखव्यतिकरविषमे यौवने विषयोगः।
नारीणामप्यवज्ञा विलसति नियतं वृद्ध भावोऽप्यसाधुः-
संसारे रे मनुष्या वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किंचित् ॥ ८८

हे मनुष्यो! संसार में तिल भर भी तो सुख नहीं है। पहले

अपवित्र गर्भ में रहा, युवा अवस्था में स्त्रियों के बिरह से दुखी रहा और वृद्धापन में स्त्रियों का अपमान सहकर सिर नवाना पड़ता है।

आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धंगतं।
तस्यार्द्धस्य परस्य चार्द्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः।
शेषं व्याधि वियोगदुःख सहितं सेवादिभिर्नीयते।
जीवे वारि तरंग चंचलतरे सौख्यंकुतः प्राणिनां॥८९॥

पहले तो आयु ही सौ बरस की ठहरी। इसका आधा ५० वर्ष रात्रि में गये शेष का आधा २५ वर्ष बाल्यावस्था में बीता, शेष यह २५ वर्ष दुख, शोक, रोग, युदाई में कट जाते हैं। सारांश यह कि सुख कुछ भी नहीं मिलता। और मिलता भी कैसे चंचल जल तरंग की भाँति तो ज़िन्दगी है।

ब्रह्मज्ञानविवेकिनोऽमलधियः कुर्वन्त्यहो दुष्करं।
मन्मुंचन्त्युपभोगकांचनधनान्यकान्ततो निस्पृहाः॥
न प्राप्तानि पुरा न सम्प्रति न च प्राप्तौ दृढप्रत्ययो।
वाञ्छामात्रपरिग्रहाण्यपि परं त्यक्तुं न शक्ता वयं॥९०॥

ब्रह्मज्ञानी लोग ऐसे निस्पृह हो जाते हैं कि सभी सुख की सामग्रियों को त्याग देते हैं और एक हम लोग हैं जो न मिलनेवाली वस्तु की भी व्यर्थ इच्छा करते हैं। और इस आकाश कुसुमवत ख़्वाहिश को भी दिल से नहीं निकाल सकते।

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती,
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम् ।
आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो,
लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम् ॥ ९१ ॥

बुढ़ापा बाघिनी सी डाँट रही है, रोग शत्रुओं के समान देह पर दण्ड प्रहार कर रहे हैं, आयु दिन-दिन घटती जाती है, जैसे फूटे घड़े से जल निकलता जाता है, तिस पर भी वही काम करते हैं जिससे हमारा नुकसान हो ।

स्नात्वा गांगैः पयोभिः शुचि कुसुम फलैरर्चयित्वा विभोत्वा,
ध्येये ध्यानं नियोज्य क्षितिधरकुहर ग्रावपर्यंकमूले ।
आत्मारामः फलाशो गुरुवचनर तस्त्वत्प्रसादात्स्मरारे,
दुःखान्मोक्ष्ये कदाहं तव चरनरतो ध्यान मार्गैकप्रश्नः ॥९२॥

हे कामदेव के शत्रु शिवजी ! मैं कब गंगा में स्नान कर, सुन्दर पुष्पों से तुम्हें पूज, कंदरा में पत्थर की चट्टान पर बैठ गुरु के बचनानुसार तुम्हारी पवित्र मूर्ति का ध्यान कर इन संसारिक दुखों से छूटूंगा, जो सभी लोगों की अनुचित सेवा से मिल रहा है ।

रे कन्दर्प करं कदर्थयसि किं कोदंडटंकारवै,
रे रे कोकिल कोमलैः कलरवैः किंत्वं वृथा जल्पसि ।
मुग्धे स्निग्धविदग्धक्षेपमधुरैर्लोलैः कटाक्षैरलं,
चेतश्चुम्बित चन्द्रचूड़ चरणाध्यानामृतं वर्तते ॥९३॥

रे कामदेव ! तू क्यों अपने धनुष का टंकार करता है ? रे कोकिल ! तू क्यों व्यर्थ अपना मधुर शब्द सुनाता है ? और हे

मुग्धे ! तू क्यों स्नेह से चंचल कटाक्ष फेंकती है, क्या नहीं जानती कि मेरा मन शिवजी के चरणों का ध्यान रूपी अमृत का पान कर रहा है ?

कौपीनं शतखण्डजर्जरतरं कन्था पुनस्तादृशी ।
निश्चिन्तं सुखसाध्य भैक्ष्यमशनं शय्याश्मशाने वने ॥
मित्रामित्र समानतातिविमला चिन्तातिशून्यालये ।
ध्वस्ताशेष मद प्रमादमुदितो योगी सुखं तिष्ठति ॥९४॥

सौ टुकड़े वाली गुदड़ी, बिना परिश्रम भिक्षान्न, श्मशान तथा वन का निवास, मित्र शत्रु में समभाव ऐसे पर निर्वाह करनेवाला मद और प्रमाद का नाश कर एकान्त स्थान में ब्रह्म-ज्ञान का अभ्यास करता हुआ परमानन्द को प्राप्त होता है ।

सृजति तावदशेष गुणाकरं पुरुष रत्नमलंकरणंभुवः ।
तदपि तत्क्षणभंगि करोति चेदहह कष्टम पंडितता विधेः ॥९५॥

ब्रह्माजी भी बड़े मूर्ख हैं जो सर्वगुण सम्पन्न तथा पृथ्वी-भूषण मनुष्य को बनाकर फिर उसका नाश करते हैं ।

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता भ्रष्टा च दन्तावलि-
र्दृष्टिर्नश्यति वर्धते वधिरता वक्त्रं च लालायते ।
वाक्यं नाद्रियते च बांधव जनो भार्या न शुश्रूषते,
हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोप्य मित्रायते ॥९६॥

शरीर सिकुड़ गया, चाल धीमी हुई, दाँत टूट गये, दृष्टि नष्ट हुई, बहिरे हो गये, मुख से लार टपक रही है, भाई बिरा-दर बात नहीं मानते, स्त्री सेवा नहीं करती और पुत्र भी दुख देता है । इन सब का प्रधान कारण वृद्धापन ही है ।

क्षणं बालो भूत्वा क्षणमपि युवा काम रसिकः,
क्षणं वित्तैर्हीनः क्षणमपि च सम्पूर्ण विभवः ।
जराजीर्णैं रंगैर्नट इव वलीमण्डिततनुर्नरः,
संसारान्तेविशति यमधानी जवनिकाम् ॥ ९७ ॥

यह मनुष्य क्षण भर में बालक, क्षण में युवा होकर कामी, क्षण में दरिद्र, क्षण में धनी और क्षण में बहुरूपिये की भाँति वृद्धापन से जीर्ण हो, सफेद बालकर और चमड़ा सिकुड़ाकर यमराज नगर के ओट में छिप जाता है ।

प्रियसखी विपद्दण्डव्रात प्रताप परम्परा ।
तिपरि चपले चिन्ता चक्रेनिधाय विधिःखलः ॥
मृद्मिवबलात्पिण्डीकृत्य प्रगल्भ कुलालवत् ।
भ्रमयति मनोनोजीनामः किमत्रविधास्यति ।।९८॥

हे प्यारी सखी ! चतुर कुम्हार की भाँति मेरा प्रारब्ध, चिन्ता रूपी चाक पर, मिट्टी के लोंदे के समान मन को रखकर विरक्ति रूपी डण्डे से बे तरह घुमा रहा है । जिससे कहा नहीं जाता कि आगे क्या होगा ?

अहो वा हारे, वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा,
मणो वा लोष्ठे वा कुसुम शयने वा दृषदि वा ।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः,
क्वचित्पुण्यारण्ये शिवशिवशिवेति प्रलपतः ॥ ९९ ॥

सर्प वा हार, शत्रु वा मित्र, चट्टान रचित वा पुष्परचित शैय्या, मणि वा पत्थर और तृण वा स्त्रियों के समूह में समदर्शी होकर शिव-शिव जपते हुए किसी जंगल में हमारे दिन व्यतीत हों, हमारी यही इच्छा है।

वैराग्ये संचरत्येको नीतौ भ्रमति चापरः।
शृंगारे रमते कश्चिद्भुवि भेदा परस्परम् ॥ १०० ॥

कोई नीति में प्रवृत्त है, किसी का मन शृंगार में लगा हुआ है और किसी का मन वैराग्य में रम रहा है। अर्थात् सभी लोगों की भावना भिन्न-भिन्न हुआ करती है। कहने का अभिप्राय यह है कि महाराज भर्तृहरिजी इसी उद्देश्य से तीन शतक बनाये हैं कि जो जैसा हो अथवा जिसकी जिसमें प्रीति हो वह उसी शतक से लाभ उठावे।